सांख्य-सुधा

✻ ओ३म् ✻

सांख्य-सुधा

अर्थात्

सांख्य दर्शन

का

सरल सुबोध तथा सुन्दर भाष्य

लेखक—

योगामृत, गीतामृत, विचार-संयम तथा

ईशोपनिषदादि ग्रन्थों के

रचयिता

श्री पं० गोपाल जी बी० ए०

प्रथमावृत्ति १००० | १९९५ | मूल्य सजिल्द १)

प्रकाशक—
प्राच्य साहित्य सेवा मंडल
१५ हनुमान रोड नई देहली

पुस्तक मिलने का पता:—
१—गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ, देहली
२—शारदा मन्दिर नई सड़क, देहली
३—गुरुकुल काङ्गड़ी, हरिद्वार
४—राजपाल एण्ड सन्स, लाहौर
५—आर्यसमाज हनुमान रोड, नई देहली
६—आर्यसमाज दीवान हाल, देहली
७—आर्यसमाज लोअर बाजार, शिमला

मुद्रक—
आचार्य राजेन्द्रनाथ शास्त्री
आर्य प्रिन्टिङ्ग प्रेस,
देहली।

समर्पण

अपनी पूज्या माता जी

के

चरण कमलों में

विनीत

गोपाल

विषय-सूची

भूमिका (१-१६)

	पृष्ठ	
	से	तक
१—सांख्य दर्शन तथा पश्चिम के विद्वान्…	१	३
२—विज्ञान और सांख्य… …	३	६
३—सांख्य दर्शन के मुख्य २ सिद्धान्त…	६	१६

प्रथम अध्याय (१-७६)

१—प्रथम अध्याय की संक्षिप्त व्याख्या …	१	१४
२—मनुष्य का अन्तिम ध्येय दुखों की निवृत्ति है	१५	१७
३—दुख जीवात्मा का स्वाभाविक धर्म नहीं	१७	२२
४—दुखों के कल्पित कारण… …	२२	३५
५—दुखों का वास्तविक कारण प्रकृति का अविवेक है… …	३५	४८
प्रकृति का लक्षण तथा उसका स्वरूप		
६—अविवेक दूर कैसे हो… …	४८	६७
७—जीवात्मा का स्वरूप… …	६७	७४
८—ईश्वर का स्वरूप… …	७४	७६

दूसरा अध्याय (७७–६७)

१—दूसरे अध्याय की संक्षिप्त व्याख्या ···	७७	८१
२—प्रकृति का सृष्टि बनाने में क्या प्रयोजन है	८२	८४
३—क्या प्रकृति ही इस सृष्टि का उपादान कारण है ?··· ···	८४	८५
४—सृष्टि के अङ्ग तथा उनके कार्य ···	८६	६७

तीसरा अध्याय (६८–१३४)

१—तीसरे अध्याय की संक्षिप्त व्याख्या ···	६८	१०७
२—स्थूल शरीर तथा सूक्ष्म शरीर का लक्षण तथा उनकी व्याख्या ···	१०८	११४
३—इन शरीरों का यथार्थ ज्ञान ही मुक्ति के लिये आवश्यक साधन है ···	११४	११६
४—विवेक ज्ञान की व्याख्या··· ···	११६	१३४

चतुर्थ अध्याय (१३५–१६४)

१—चतुर्थ अध्याय की संक्षिप्त व्याख्या ···	१३५	१४०
२—भिन्न २ कथाओं द्वारा विवेकप्राप्ति के उपायों पर उपदेश··· ···	१४१	१५३

पंचम अध्याय (१५४–२१६)

१—पञ्चम अध्याय का संक्षिप्त विवरण ...	१५५	१६४
२—मङ्गलाचरण क्यूँ करना चाहिये ...	१६५	१६६
३—सृष्टि का उपादान कारण प्रकृति है, ईश्वर नहीं ...	१६७	१६८
४—अविद्योपाधि से भी ईश्वर इस सृष्टि का उपादान कारण नहीं है ...	१६६	१७५
५—प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण की व्याख्या	१७५	१७६
६—शब्द प्रमाण की व्याख्या ...	१७६	१८२
७—वेद के अर्थ को कैसे जाना जाय ...	१८२	१६३
८—मुक्ति के विषय में ...	१६३	२००
९—अणु सिद्धान्त (Atomic theory) का खण्डन ...	२००	२०८
१०—स्थूल शरीर तथा सूक्ष्म शरीर की व्याख्या	२०८	२१६

षष्ठ अध्याय (२२०–२४८)

१—षष्ठ अध्याय का संक्षिप्त विवरण ...	२२०	२२५
२—आत्मा की सिद्धि में युक्तियां ...	२२६	२२७

३—संसार में दुःख की अधिक मात्रा ... २२७ २२८

४—अविवेक दुखों का मूल कारण है ... २२९ २३०

५—अविवेक अनादि है, नित्य नहीं है ... २३० २३१

६—क्या मुक्ति से मनुष्य वापिस लौटता है ? २३२ २३३

७—क्या आसन, ध्यान, धारणा, अभ्यास, वैराग्य
अविवेक के दूर करने के साधन नहीं हैं ? २३५ २३६

८—प्रकृति तथा आत्मा का यथार्थ बोध ही
अविवेक को दूर कर सकता है ... २३६ २४८

❀ ओ३म् ❀

भूमिका

सांख्य दर्शन तथा पश्चिम के विद्वान्

१. पश्चिम में भारतवर्ष के दो दर्शनों की बड़ी प्रशंसा है एक सांख्य दर्शन की और दूसरे वेदान्त दर्शन की। दोनों दर्शनों का ध्येय एक ही है परन्तु उस ध्येय तक पहुंचने के साधन भिन्न २ हैं सांख्य दर्शन विश्लेषणात्मक (Analytic) तरीके का अवलम्बन करता है परन्तु वेदान्त दर्शन संश्लेषणात्मक (Synthetic) तरीके का सहारा लिये हुवे है—सांख्य दर्शन वैराग्य पर आश्रित है। परन्तु वेदान्त दर्शन अनुराग (प्रेम) का आश्रय लिये हुवे है। सांख्य दर्शन मुख्यतया नैतिक (Ethical)शास्त्र है परन्तु वेदान्त दर्शन मुख्यतया आध्यात्मिक (Metaphysical) शास्त्र है। पाठक वृन्द इस भ्रम में न पड़ें कि यह दोनों शास्त्र एक दूसरे का विरोध करते हैं। इन का परस्पर कोई विरोध नहीं है प्रत्युत एक दूसरे के सहायक हैं—ध्येय दोनों का एक ही है—

डा० चार्लस गारबे, डा० कोलब्रुक, तथा डा० लैसन आदि प्रसिद्ध विद्वानों ने सांख्य दर्शन तथा सांख्य कारिका पर अमूल्य

ग्रन्थ लिख कर भारत पर बड़ा उपकार किया है। और भारत वासियों के अन्दर अपने शास्त्रों के लिये प्रेम तथा उत्साह पैदा किया है। इसलिये हम उनके प्रति कृतज्ञता की श्रद्धाञ्जलि उपस्थित करते हैं। वह हमारे धन्यवाद के पात्र हैं। हमारे यह प्राचीन ग्रन्थ केवल अलमारियों को ही सुशोभित कर रहे थे—ऋषि दयानन्द की अपार कृपा से इन्हें पुनः उठा कर पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ और उपरोक्त विद्वानों के भाष्यों ने उन प्राचीन ग्रन्थों को नये रूप में प्रगट किया।

श्री डाक्टर चार्लस गारबे लिखते हैं—

"It was for the first time in the history of the world that, in Kapil's doctrine, the complete independence of thought and full confidence in man's powers had been exhibited. It is the most significant system of philosophy that India has produced."

"संसार के इतिहास में पहली वार कपिल के सिद्धान्त द्वारा विचार की स्वतन्त्रता और मनुष्य की शक्तियों में पूर्ण विश्वास प्रगट हुआ है। भारतवर्ष ने सांख्य सिद्धान्त द्वारा एक ऐसी फिलासफी को जन्म दिया है। जो बहुत महत्त्व पूर्ण और अत्यन्त उपयुक्त है"।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि सांख्य दर्शन में कौन

सी विशेषता है। जिस से उपरोक्त विद्वान् प्रभावित हुवे हैं? इस का उत्तर यह है कि सांख्य दर्शन विज्ञान के मौलिक सिद्धान्तों पर खड़ा है। इसीलिये ही पश्चिमी विद्वान इस की ओर आकर्षित हुवे हैं। वह सिद्धान्त निम्न हैं—

विज्ञान और सांख्य

आधुनिक विज्ञान निम्न तीन सिद्धान्तों पर आश्रित है—

(क) विकासवाद (Law of Evolution)

(ख) सत्कार्यवाद (Law of Causation)

(ग) परिणामवाद (Laws of change and Conservation of Energy)

विकासवाद आधुनिक विज्ञान की जान है। कपिल मुनि का शास्त्र भी विकासवाद से आरम्भ होता है और बहुत अंशों में वर्तमान वैज्ञानिक विकासवाद से मिलता जुलता है। केवल भेद इतना है कि आधुनिक विज्ञान पुरुष को भी उस विकासवाद की शृंखला में एक कड़ी समझता है परन्तु सांख्य का विकासवाद बुद्धितत्त्व तक सीमित है। और पुरुष को उससे सर्वथा जुदा खड़ा करता है। प्रकृति का लक्षण दोनों का एक जैसा ही है। पश्चिमी विद्वानों के अनुसार प्रकृति एक शक्ति सम्पन्न द्रव्य का नाम है (Matter is a form of Energy) सांख्याचार्य उसे सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण की साम्यावस्था का नाम देते हैं—(सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः)

यह सतो गुणादि क्या हैं ? यह भी केवल भिन्न २ शक्तियों के नाम हैं।

कपिल मुनि का विकासवाद केवल भौतिक ही नहीं है। प्रत्युत मानसिक भी है जहां इस प्रकृति से पञ्च महाभूतों का विकास हुआ है। वहां इसी प्रकृति से मन, बुद्धि, इन्द्रियां, अहंकार आदि का विकास हुआ है। मन, बुद्धि आदि भी प्राकृतिक पदार्थ हैं।

प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कारोऽहङ्कारात्पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं, तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि, पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः (प्रथम अध्याय सूत्र ६१)।

प्रकृति से बुद्धितत्त्व, बुद्धितत्त्व से अहङ्कार, अहङ्कार से पञ्चतन्मात्रा (शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श) और पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां तथा ग्यारहवां मन, उन पञ्चतन्मात्राओं से पञ्चमहाभूत (पृथ्वी, जल, वायु, आकाश और तेज) प्रगट हुवे—और पुरुष इससे भिन्न है। यह पच्चीस गण हैं जिनका ज्ञान ही मनुष्य को मोक्ष दिला सकता है।

कपिल मुनि के मतानुसार प्रकृति कोई कल्पित द्रव्य नहीं है, प्रत्युत उसको सिद्ध भी किया जा सकता है—"कार्यतस्तत्सिद्धेः"

प्रकृति के कार्यों को देख कर प्रकृति की सिद्धि की जा सकती है।

स्थूल पञ्चमहाभूतों को देख कर उनकी पञ्चतन्मात्राओं का ज्ञान होना सहज है। "स्थूलात् पञ्चतन्मात्रस्य"

ज्ञानेन्द्रियां तथा कर्मेन्द्रियां और मन से अहङ्कार का अनुमान किया जा सकता है। "बाह्याभ्यन्तराभ्यां तैश्चाहङ्कारस्य"

और अहङ्कार से बुद्धितत्त्व का अनुमान हो सकता है। "तेन अन्तःकरणस्य"

और बुद्धितत्व से प्रकृति का अनुमान होता है। "ततः प्रकृतेः"

इस प्रकार कपिल मुनि सृष्टि विज्ञान को सब से प्रथम अपने शास्त्र में स्थान देते हैं और सचमुच इसी सिद्धान्त ने ही पश्चिमी विद्वानों को अपनी ओर आकर्षित किया है।

(ख) दूसरा वैज्ञानिक सिद्धान्त सत्कार्यवाद (Law of Causation) है।

विना कारण के कोई कार्य नहीं हो सकता, कारण के अभाव में कार्य का अभाव है। सांख्यमतानुसार प्रत्येक कार्य कारण में गुप्तरूप से पूर्व ही विद्यमान है। उसका प्रादुर्भाव ही उसे कार्य का रूप देता है। कारण कोई ऐसी चीज़ पैदा नहीं कर सकता जो उसमें पहले मौजूद न हो, इसी को सत्कार्यवाद कहते हैं। इसीलिये ही कपिल मुनि इस सृष्टि का उपादानकारण प्रकृति को मानते हैं। क्योंकि सृष्टि और प्रकृति दोनों जड़ पदार्थ हैं, चेतन से जड़ पदार्थ की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि ईश्वर को इस जगत् का उपादान कारण माना जावे तो यह भी ईश्वर की तरह ऐश्वर्यवान्, सर्वज्ञ और प्रकाशस्वरूप हो, परन्तु ऐसा देखने में नहीं आता इसीलिये सांख्याचार्य लिखते हैं। "सत्तामात्राच्चेत्सर्वैश्वर्यम्"

यदि ईश्वर को इस सृष्टि का उपादान कारण मानोगे तो सृष्टि को चेतन समझना पड़ेगा-परन्तु सृष्टि वस्तुतः जड़ है।

(ग) तीसरा सिद्धान्त परिणामवाद (Laws of change and Conservation of Energy) है विज्ञान तथा सांख्य मतानुसार कोई वस्तु सर्वथा नष्ट नहीं होती—केवल उस वस्तु का रूप परिवर्तित हो जाता है—वस्तु के उद्भव का नाम ही उत्पत्ति है और वस्तु के तिरोभाव का नाम ही नाश है— "शक्त्युद्भवानुद्भवाभ्यां नाशक्योपदेशः"

कपिल मुनि किसी वस्तु के नाश होने के भाव को और अधिक स्पष्ट करते हैं—"नाशः कारणलयः"

वस्तु के कारण में लय होने को ही नाश कहते हैं इसलिये स्पष्ट है कि विज्ञान और सांख्य दोनों ही परिणामवाद पर खड़े हैं। नदी में मैंने आज जिस जल से स्नान किया है वह मुझे कल नहीं मिलेगा। नदी तो वही है परन्तु जल और है। इसी प्रकार सृष्टि का प्रत्येक पदार्थ तब्दील हो रहा है। परन्तु सृष्टि मुझे ज्यूं की त्यूं वैसी ही प्रतीत होती है। इसका कारण यह है कि मनुष्य के अन्दर प्रत्यभिज्ञा की शक्ति है जो भिन्नता में एकता का भान करती है हिरैक्लीटस के परिणामवाद का स्वरूप कपिल मुनि के सांख्य शास्त्र में मौजूद है जो हिरैक्लीटस के जन्म से हज़ारों वर्ष पूर्व लिखा गया था।

सांख्य दर्शन के मुख्य २ सिद्धान्त

सांख्य दर्शन के मुख्य २ सिद्धान्त निम्न हैं—

"प्रकृति पुरुषयोर्नित्यमन्यत् सर्वमनित्यम्"

(१) प्रकृति और पुरुष दोनों नित्य हैं। शेष सब पदार्थ अनित्य हैं। पुरुष से तात्पर्य आत्मा और परमात्मा दोनों का है। मनुष्य को पुरुष इस लिये कहते हैं, क्योंकि वह इस शरीर रूपी पुरी में निवास करता है और ईश्वर को पुरुष इस लिये कहा जाता है, क्योंकि वह इस जगत् रूपी पुरी में निवास करता है। योग दर्शन में ईश्वर को पुरुष विशेष कहा है, यथा—

"क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः"

क्लेश, कर्म तथा उस के फल से जो न छुवा हुवा पुरुष विशेष है—वही ईश्वर है।

वेद में भी कई स्थानों पर ईश्वर को पुरुष संज्ञा दी गई है।

अतः स्पष्ट है कि पुरुष के अर्थ जीवात्मा और परमात्मा दोनों हो सकते हैं। तब सांख्याचार्य के मत में तीन पदार्थ नित्य हुवे—प्रकृति, जीवात्मा और ईश्वर। कई भाष्यकार यह समझते हैं कि सांख्यकार नास्तिक थे या अनीश्वरवादी थे। यह एक भ्रम है, यह भ्रम "ईश्वरासिद्धेः" सूत्र से पैदा हुवा है। "ईश्वरासिद्धेः" सूत्र का अर्थ है ईश्वर असिद्ध है। यदि कपिल मुनि ईश्वर को न मानते होते तो वह "ईश्वरासिद्धेः" सूत्र के स्थान पर "ईश्वरा-

भावात्" की रचना करते और कहते कि ईश्वर का अभाव है। परन्तु उनका ऐसा न करना ही यह प्रगट करता है कि वह ईश्वर से इन्कारी नहीं थे। जब वह कहते हैं कि ईश्वर असिद्ध है, तो उनका मतलब यह है कि ईश्वर बाह्यसाधनों द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता। युक्तियों द्वारा, प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा उस की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि ईश्वर इन्द्रियातीत है। उसके जानने का साधन भी इन्द्रियातीत होना चाहिये। कपिलाचार्य योगियों के अबाह्यप्रत्यक्ष में कोई दोष नहीं देखते, इसीलिये वह लिखते हैं—

"योगिनामबाह्यप्रत्यक्षात्वान्न दोषः"

योगियों के अबाह्यप्रत्यक्ष द्वारा यदि ईश्वर को जाना जाय तो उसमें कोई दोष नहीं। इस अबाह्य प्रत्यक्ष को वेद में मेधा, उपनिषद् में प्रतिबोध, योग में ऋतम्भरा प्रज्ञा और अंग्रेजी में Intuition का नाम दिया गया है। मनुष्य के अन्दर दो प्रकार की बुद्धि है, एक पार्थिव बुद्धि और दूसरी सहज बुद्धि या नैसर्गिक बुद्धि। पार्थिव बुद्धि तो संसार के पदार्थों को जानने की शक्ति रखती है और सहज बुद्धि दिव्यता की द्योतक है। वह पुण्यात्माओं में स्वतः जागृत होती है। जिन पुरुषों का हृदय मल-रहित हो गया है, जो शान्त हैं और समाहित हो सकते हैं, उनके अन्दर इस नैसर्गिक बुद्धि का प्रकाश होता है। कपिल मुनि कहते हैं कि ईश्वर को जानने और सिद्ध करने के लिये इसी बुद्धि का आश्रय लेना आवश्यक है।

सांख्य दर्शन में कई अन्य सूत्र हैं जो ईश्वर के अस्तित्व को ज़ाहिर करते हैं। यथा—"स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता" वह ईश्वर निश्चय से सब का जानने वाला और सब का कर्ता है। "समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता" समाधि, सुषुप्ति और मोक्ष में मनुष्य को ब्रह्मरूपता प्राप्त होती है अर्थात् ब्रह्म में वह लीन हो जाता है।

यदि भगवान् कपिल नास्तिक होते तो वह सूत्र में ब्रह्मरूपता का शब्द प्रयुक्त न करते। अतः स्पष्ट है कि कपिल मुनि नास्तिक या अनीश्वरवादी नहीं थे।

२. कपिल मुनि का दूसरा सिद्धान्त यह है कि जगत् सत्य है और वह मिथ्या नहीं है। वह लिखते हैं—"जगत् सत्यत्वमदुष्टकारणजन्यत्वात् बाधकाभावात्"

जगत् सत्य है क्योंकि वह प्रत्यक्ष रूप से हमें दिखलाई देता है हमें पीलिया रोग नहीं है जो हमें यह संसार भी पीलिया दिखलाई देता हो इस सिद्धान्त द्वारा उन सब पौराणिक मतों का खण्डन हो जाता है जो इस जगत् को मिथ्या मानते हैं हिन्दु जाति के अन्दर जो सुस्ती, काहिली और नामर्दी दिखलाई देती है। वह इस जगत् को मिथ्या मानने के कारण ही है हम इतनी बड़ी भारी संख्या में होते हुवे भी कीड़े मकोड़ों से ज़्यादा हैसियत नहीं रखते। इस का मुख्य कारण हमारे अशुद्ध विचार और जगत का मिथ्यावाद है। योग दर्शन में लिखा है। कि यह जगत् भोग और मोक्ष दोनों के लिये है—"भोगापवर्गार्थम् दृश्यम्"

यह दृश्य भोग और अपवर्ग के लिये है। मोक्ष भी इसी संसार द्वारा मिलता है। तो यह मिथ्या कैसे हो सकता है?

श्रुति कहती है—"तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः"

त्याग भाव से इस संसार का भोग करो। इन उपरोक्त प्रमाणों के होते हुवे इस जगत को मिथ्या मानना न केवल अशुद्ध है, प्रत्युत पाप है।

३. तीसरा सिद्धान्त कपिल मुनि का यह है, कि इस सृष्टि का उपादानकारण प्रकृति है। यदि प्रकृति को उपादान कारण न मान कर ईश्वर को इस जगत् का उपादान कारण माना जाय, तो अनवस्था दोष प्राप्त होगा। क्योंकि कारण और कार्य परस्पर सर्वथा भिन्न २ दिखलाई देते हैं ईश्वर सर्वज्ञ चेतन और सर्वशक्तिमान् है। परन्तु सृष्टि में यह बातें नहीं पाई जातीं—"सत्तामात्राच्चेत् सर्वैश्वर्यम्"

कपिल मुनि कहते हैं कि कारण और कार्य का परस्पर सम्बन्ध है। जो गुण कार्य में होने चाहियें। वही कार्य में होने चाहिये ईश्वर को इस जगत् का उपादान कारण मानना, जगत् को ईश्वर जैसा चेतन, सर्वज्ञ समझने के तुल्य है। जो अशुद्ध है इस सिद्धान्त द्वारा शङ्कराचार्य जी का मत सर्वथा खण्डित हो जाता है।

४. चतुर्थ सिद्धान्त कपिल मुनि का यह है कि जीवात्मा असंख्य हैं—"पुरुष बहुत्वम् व्यवस्थात:"

संसार में पुरुषों की भिन्न २ व्यवस्था देखने से स्पष्ट है है। कि पुरुष अर्थात् जीवात्मा असंख्य हैं कोई दु:खी है और कोई सुखी है। कोई जन्म ले रहा है, तो कोई मर रहा है। कई भाष्यकार समझते हैं कि कपिलाचार्य इन असंख्य आत्माओं को विभु मानते थे। श्री शङ्कराचार्य जी ने इस पर बड़ी कड़ी आलोचना की है और लिखा है कि एक ही देश और काल में असंख्य विभु कैसे रह सकते हैं यह आलोचना ठीक और युक्ति-युक्त प्रतीत होती है परन्तु सांख्य दर्शन को बिना किसी भाष्य

का अवलम्बन किये पढ़ने से यह भ्रम दूर हो जाता है। कपिलाचार्य लिखते हैं—"अणुपरिमाणम् तत्कृतिश्रुतेः"

श्रुति से सिद्ध है, कि आत्माएं अणुपरिमाण वाली हैं, कई भाष्यकार उसे सूक्ष्म शरीर के प्रसंग में लगाते हैं हमारी सम्मति में इस सूत्र का प्रयोग दोनों स्थलों पर हो सकता है।

इसलिये स्पष्ट है कि कपिल मुनि असंख्य आत्माएं मानते थे। उनको विभु नहीं मानते थे प्रत्युत परिच्छिन्न मानते थे।

(५) पांचवां सिद्धान्त कपिल मुनि का यह है कि यद्यपि सुख और दुःख दोनों संसार में स्वतन्त्र सत्ता रखते हैं परन्तु दुःख की मात्रा बहुत अधिक है- और जो सुख हमें दिखलाई देता है-वह भी दुख से मिला हुवा है। कपिलाचार्य लिखते हैं-

(क) यथा दुखात्क्लेशः पुरुषस्य न तथा सुखादभिलाषः

(ख) कुत्रापि कोऽपि सुखीति

(ग) तदपि दुखशबलमिति दुःखपक्षे निःक्षिपन्ते विवेचकाः

जैसा मनुष्य को दुख से क्लेश होता है वैसी सुख में अभिलाषा नहीं होती। वस्तुतः संसार में पूर्णतया कौन सुखी है? कोई भी नहीं, और जो सुख है वह भी दुख से मिला हुआ है इसलिये विवेकी पुरुष दुःख का ही विवेचन करते हैं।

अन्य मतों के आचार्यों ने भी सब से अधिक दुःख के विवेचन पर ही जोर दिया है, बुद्ध भगवान दुःख की समस्या को हल करने के लिये ही अपने राज्य को छोड़ने के लिये उद्यत हुवे थे।

गुरु नानक देव जी के सन्मुख भी यह प्रश्न हमेशा उपस्थित रहता था। "नानक दुखिया सब संसार" स्पेन में जब मुसल्मानों का राज्य था। तो अब्दुल रहमान बादशाह ने ५४ वर्ष तक अपना रोजनामचा लिखा और उसमें केवल १४ दिन

उसको ऐसे मिले जिसमें उसका कभी कोई क्लेश नहीं हुवा, अतः स्पष्ट है कि दुख की समस्या एक विशेष महत्व रखती है।

दुःख किसे कहते हैं ? दुःख का कारण क्या है ? दुःख का नाश किसे कहते है- और दुख के नाश के उपाय क्या हैं- इन्हीं चार प्रश्नों का उत्तर ही वस्तुतः सांख्य दर्शन में मुख्यता रखा गया है, और इनका ही पूर्णरूप से विवेचन किया गया है। सांख्य-मतानुसार प्रतिकूल वेदना का नाम ही दुःख है। दुःख मनुष्य का कोई स्वाभाविक गुण नहीं है। दुःख का मूल कारण अविवेक है दुख का नाश सिवाय विवेक के अन्य किसी साधन से नहीं हो सकता और उस विवेक को प्राप्त करने के उपाय निम्न हैं।

(क) प्रकृति का यथार्थ बोध। जब तक प्रकृति का यथार्थ बोध अथवा ज्ञान नहीं होता तब तक अपनी आत्मा का भी ज्ञान नहीं होसकता। इसलिये कपिलाचार्य लिखते हैं—

"प्रधानाविवेकादन्याविवेकस्य तद्धाने हानम्"

(ख) दूसरा साधन विवेक प्राप्त करने का ध्यान है।

"रागोपहतिर्ध्यानम्"।

राग से रहित होकर ध्यान करना है।

राग से रहित होकर ध्यानावस्थित होना तभी संभव है, जब मन की वृत्तियों का सर्वथा निरोध हो जाय। मन की वृत्तियां पांच प्रकार की हैं—एक वह वृत्तियां जो प्रत्यक्षादि प्रमाणों के प्रयोग से उत्पन्न होती हैं उसे प्रमाण वृत्ति कहते हैं। दूसरी वह वृत्तियां जो मिथ्या ज्ञान से पैदा होती हैं, जैसे रस्सी को देखकर सांप का भान होना, इसे विपर्ययवृत्ति कहते हैं। तीसरी वह वृत्तियां हैं, जिन में मनुष्य हवाई किले बनाता है और शेख-चिल्लियों जैसी बातें करता है, उसे विकल्प वृत्ति कहते हैं। चौथी वह वृत्तियां हैं, जो आलस्य, सुस्ती, काहिली के कारण कुत्सित

विचारों को पैदा करती हैं, इसे निद्रावृत्ति कहते हैं। और पांचवी वृत्तियां वह हैं जिनमें मनुष्य अपनी गई गुज़री बातों को याद करके अपने मन को कलुषित करता रहता है, इसे स्मृति वृत्ति कहते हैं। जब तक यह वृत्तियां नहीं रुकतीं, तब तक रागरहित ध्यान नहीं हो सकता।

(ग) तीसरा साधन अपने २ आश्रम में विधान किये हुए कर्मों का निष्काम भाव से यथावत् पालन करना है । "स्वकर्म-स्वाश्रमविहितकर्मानुष्ठानम्" ।

यदि मैं ब्रह्मचारी हूँ, मुझे विद्या से प्रेम तथा वीर्य की रक्षा करनी अभीष्ट है, यदि मैं गृहस्थी हूं, मेरा जीवन अपने कुटुम्ब के पालन, लोक सेवा तथा परोपकार में व्यतीत होना चाहिये। यदि मैं वानप्रस्थी हूँ, मुझे तप, ध्यान, आराधना विचारादि में निमग्न रहना चाहिये। यदि मैं सन्यासी हूँ, तब मुझे विरक्त होकर अपने अनुभव को प्रसार करने का हर समय ध्यान रखना चाहिये। इस प्रकार उचित रीति से अपने आश्रम सम्बन्धी कर्तव्यों का पालन करते हुए मैं दुखों से छुटकारा पा सकता हूँ।

(घ) चौथा साधन है अभ्यास और वैराग्य "वैराग्या-दभ्यासाच्च" ।

अभ्यास और वैराग्य दो प्रकार की शक्तियां हैं।

अभ्यास विधेयात्मक शक्तियों (Positive forces) के अनुसरण का नाम है।

वैराग्य निषेधात्मक शक्तियों (Negative forces) के उचित प्रयोग का नाम है।

वैराग्य—दृष्टानुश्रविक पदार्थों तथा उनके गुणों में तृष्णा रहित होने का नाम वैराग्य है "दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्" ।

अभ्यास—अनुकूल शक्तियों के बार २ अनुसरण करने से जो स्थिति उत्पन्न होती है उसे कायम रखने का नाम अभ्यास है।

लोगों ने वैराग्य का अर्थ कपड़े छोड़ने, भूखा रहने, नङ्गे घूमने, तथा शरीर को कमजोर करना समझ लिया है। शास्त्र इस का खण्डन करते हैं, अभ्यास का अर्थ आसन लगाने, नेति, धौति, शंख प्रक्षालनादि हठयोग की क्रियाओं को करना समझ लिया है, शास्त्र इसका भी निषेध करते हैं।

कपिलाचार्य कहते हैं—आसन वही है जिससे मनुष्य सुख पूर्वक और स्थिरता पूर्वक बैठ सके, किसी खास आसन के लगाने की जरूरत नहीं "स्थिरसुखमासनमिति न नियमः"।

यह चार साधन हैं जिन पर मनुष्य अमल करके दुखों से निवृत्त हो सकता है।

(६) छठा सिद्धान्त कपिलाचार्य का यह है कि मुक्ति किसी लोक की प्राप्ति का नाम नहीं है। दुखों की अत्यन्त निवृत्ति का नाम ही मोक्ष है या अन्तराय के सर्वथा दूर हो जाने का नाम ही मुक्ति है "मुक्तिरन्तरायध्वस्तेर्न परा"।

मुक्ति अन्तराय अर्थात् विघ्नों के नाश का नाम है, वह विघ्न निम्न हैं—

"व्याधि स्त्यान संशय प्रमादाऽलस्याऽविरति भ्रान्तिदर्शना-ऽलब्धभूमिकत्वाऽनवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायः"

व्याधि=शरीर का हर समय रोगी रहना।

स्त्यान=मौलिक विचार न कर सकना। दिमाग़ की कमज़ोरी

संशय=सन्देहात्मक तबीयत बनी रहनी

प्रमाद=काम करने से जी चुराना

आलस्य=सुस्ती

अवरति=अज्ञानता

भ्रान्ति दर्शन=शरीर तथा दिमाग की अव्यवस्था के कारण विचित्र २ शकलें दिखलाई देनी ।

अलब्धभूमिकत्व=किसी लक्ष्य को प्राप्त न कर निराश हो जाना ।

अनवस्थितत्व=चित्त का अव्यवस्थित रहना यह विघ्न हैं । इनके अतिरिक्त २८ प्रकार की अशक्तियां हैं । उन के दूर करने का नाम ही मुक्ति है । उन २८ प्रकार की कमजोरियों का ज़िक्र हम पांचवे तथा तीसरे अध्याय में पढ़ेंगे । यह मुक्ति शरीर रखते हुये भी हो सकती है । सांख्य मतानुसार 'जीवन-मुक्त की अवस्था सब से श्रेष्ठ है ।

७. सातवां सिद्धान्त कपिलाचार्य का यह है कि मुक्ति केवल पुरुष की ही नहीं प्रत्युत प्रकृति को भी विमुक्त करना है ।

"विमोक्तविमोक्षार्थं स्वार्थं वा प्रधानस्य"

इस सिद्धान्त को अधिक स्पष्ट करने की आवश्यकता है ।

सांख्य मतानुसार प्रकृति स्वभाव से अन्धी है परन्तु सतत क्रियाशाली है, और पुरुष स्वभाव से लङ्गड़ा है परन्तु चेतन है और ज्ञान युक्त है । दोनों एक दूसरे की सहायता के इच्छुक हैं प्रकृति अन्धी होने के कारण अपने ध्येय तक नहीं पहुंच सकती और पुरुष लङ्गड़ा होने के कारण दुखी है और अपने ध्येय तक नहीं पहुंच सकता, दोनों का परस्पर मेल होता है, पुरुष प्रकृति को अपना घोड़ा बना उसपर सवार होजाता है और रास्ता दिखलाता जाता है, जब ध्येय निकट आजाता है, वह उस प्रकृति रूपी घोड़े से उतर पड़ता है, और उससे

अलग हो जाता है, इस प्रकार दोनों अपने २ ध्येय तक पहुंच जाते हैं। प्रकृति की अब सब क्रियायें उस पुरुष के लिये समाप्त होगई हैं, उनका उस समय तक ही मेल था जब तक वह ध्येय तक नहीं पहुंचे थे - ध्येय प्राप्त होने पर उनका सम्बन्ध टूट जाता है। इस संग-विच्छेद को ही कपिल मुनि ने मुक्ति माना है।

प्रकृति को उस भृत्य से उपमा दी गयी है जो पाकशाला में भोजन पकाने के कार्य से निवृत्त होचुका है और अपनी कोठी में आराम कर रहा है। प्रकृति के सब कार्य पुरुष के लिये हैं, जब पुरुष सन्तुष्ट होगया तब प्रकृति की क्रियायें उस पुरुष के लिये बन्द हो जाती हैं—"अनुपभोगेऽपि पुमर्थं सृष्टिः प्रधानस्योष्ट्रकुङ्कुम वहनवत्"

प्रकृति की यह सृष्टि पुरुष के भोग के लिये है, और उस ऊंट की तरह है, जो चन्दन का बोझ उठाये हुये है, परन्तु उस चन्दन की सुगन्ध से ऊंट कोई लाभ नहीं उठाता।

पाठक वृन्द ! संक्षेप से सांख्य दर्शन के मोटे २ सिद्धान्तों को आपके सन्मुख रखा है, ताकि शास्त्र का अध्ययन करने में सुभीता हो।

मैं अपने परिश्रम को सफल समझूंगा यदि कुछ महानुभाव इस ग्रन्थ को पढ़कर शास्त्रों के पठन पाठन में प्रवृत्त होजायें।

'गोपाल'

❀ ओ३म ❀

प्रथम अध्याय

कपिल मुनि प्रथम अध्याय में अपने सिद्धान्त को बड़े स्पष्ट शब्दों में वर्णन करते हैं। उनका सिद्धान्त यह है कि दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति ही मनुष्य का अन्तिम ध्येय है। वे दुःख तीन प्रकार के हैं—एक शारीरिक, दूसरा मानसिक और तीसरा दैविक।

शारीरिक दुःख—बीमारी आदि से उत्पन्न होता है।

मानसिक दुःख—क्रोध, राग, द्वेष, सम्मोह तथा ईर्ष्यादि से उत्पन्न होता है।

दैविक दुःख—भूचाल, बिजली के गिरने तथा नदी में डूबने आदि से उत्पन्न होता है।

इन दुःखों का थोड़े काल के लिये दूर हो जाना कोई कठिन नहीं। बाहर के साधनों से भी दुःख दूर किये जा सकते हैं। परन्तु इनकी अत्यन्त निवृत्ति के लिये किसी अन्य उपाय का आश्रय लेना पड़ेगा। वे अन्य उपाय क्या हैं; इसी का ही वर्णन इस प्रथम अध्याय में है।

सब से पहले मुनि इस बात पर बहस करते हैं कि ये दुःख किस प्रकार उत्पन्न हुए ? क्या ये दुःख जीवात्मा के स्वाभाविक

धर्म हैं ? या किसी निमित्त से ये दुःख उत्पन्न हुए हैं ? यदि ये जीव के स्वाभाविक धर्म हैं, तब इनके नष्ट करने का उपाय करना व्यर्थ है; क्योंकि स्वभाव नष्ट नहीं हो सकता। गुण गुणी के साथ हमेशा रहेगा। जब तक गुणी मौजूद है, उसके गुणों का उसके साथ रहना भी आवश्यक है। जीवात्मा तो अजर और अमर है। इसलिये दुःख यदि उसके स्वभाव में है, तो उसके दूर करने का प्रयत्न करना सर्वथा व्यर्थ है।

यदि जीवात्मा के स्वभाव में दुःख हैं, तो जो वेद में दुःख दूर करने के उपाय लिखे हैं, वे सब व्यर्थ समझे जावेंगे; परन्तु वेद में व्यर्थ और असम्भव बातों का विधान नहीं है; इसलिये मालूम होता है कि दुःख जीव का स्वाभाविक धर्म नहीं है; प्रत्युत वह किसी निमित्त से पैदा हुआ है। कई महात्मा यह समझते हैं कि स्वाभाविक धर्म भी नष्ट हो सकता है; जैसे एक सफेद कपड़ा हो, उसे लाल रंग का कर दिया जावे, तो उसकी सफेदी नष्ट हो जाती है।

कपिल मुनि कहते हैं कि सफेदी नष्ट नहीं हो जाती; प्रत्युत वह छिप जाती है। दो चार बार कपड़े को अच्छी प्रकार धोने से उसकी लाली नष्ट हो जावेगी और पुनः उसका सफेद रंग निकल आयेगा। इसलिये स्वाभाविक गुण कभी नष्ट नहीं हो सकता; क्योंकि दुःख दूर किये जा सकते हैं इसलिये स्पष्ट है कि दुःख जीव का स्वाभाविक धर्म नहीं है।

अब प्रश्न यह है कि दुःख पैदा कैसे हुआ ? कई लोग यह

समझते हैं कि देश, काल, अवस्था तथा कर्म के कारण दुःख की उत्पत्ति हुई है। परन्तु कपिल मुनि इसका खण्डन करते हैं और बतलाते हैं कि देश और काल तो व्यापक हैं। इसलिये प्रत्येक स्थान और प्रत्येक समय मनुष्य को एक सा दुःख होना चाहिये। परन्तु यह देखने में नहीं आता; क्योंकि भिन्न २ देशों में और भिन्न २ समयों में भिन्न २ दुःख होते हैं। जिनको हम दुःख मानते हैं। उन दुःखों को दूसरे स्थान वाले दुःख नहीं मानते जिस समय में हम दुःखी हैं, उसी समय में अनेक पुरुष सुखी हैं। और यदि देश काल से दुःख का निर्णय किया जावे, तब जीवन्मुक्त में भी दुःख रहने चाहियें; परन्तु जीवन्मुक्त में दुःख नहीं माने जाते। यदि अवस्था और कर्म से दुःख की उत्पत्ति मानी जाय, तब भी यह व्यवस्था अशुद्ध है, क्योंकि अवस्था और कर्म का सम्बन्ध शरीर से है। इसलिये जो शरीर से सम्बन्ध रखते हैं, वे जीवात्मा को कैसे बांध सकते हैं। जीवात्मा शरीर से पृथक् वस्तु है। कई लोग समझते हैं कि प्रकृति के सम्बन्ध से जीवात्मा को दुःख भासते हैं—यह भी अशुद्ध है। क्योंकि प्रकृति तो जड़ है, वह चेतन को कैसे बांध सकती है। और दूसरा प्रकृति चेतन के आधीन है। एक आधीन वस्तु बन्धन का कारण नहीं हो सकती है। कई लोग यह समझते हैं कि ब्रह्म अविद्या की उपाधि के कारण जीव-रूप होकर सुख और दुःख भोगता है; इसलिये अविद्या बन्धन का हेतु है। जो वेदान्ती अविद्या को बन्धन का हेतु समझते

हैं, वे इस बात को भूल जाते हैं कि अविद्या किसी वस्तु का नाम नहीं है। यदि अविद्या को वस्तु माना जायेगा, तो द्वैतापत्ति होगी—एक ब्रह्म और दूसरी अविद्या। यदि वस्तु है, तो उनका सिद्धान्त जाता है। यदि यह कहें कि विद्या वस्तु भी है और अवस्तु भी है, तो संसार में कोई ऐसा पदार्थ दिखलाई नहीं देता।

कई तत्त्ववेत्ता यह समझते हैं कि अनादि प्रवाह रूप वासना से जीव को दुःखों का बन्धन होता है। कपिल मुनि कहते हैं कि वासनाएं बाहर के पदार्थों से तैय्यार होती है और आत्मा देह के अन्दर है; इसलिये इन दो के बीच बड़ा अन्तर है। इसलिये वह भी बन्धन का हेतु नहीं हो सकती। और यदि आत्मा और इन्द्रियों दोनों को विषय वासना में बंधा हुआ मानोगे तो मुक्त और बद्ध में भेद का कुछ पता नहीं लगेगा।

क्षणिक वादी समझते हैं कि दुःख भी क्षणिक हैं; इसलिये इसका कारण मालूम करना व्यर्थ है। अभाव ही इसका कारण है। कपिल मुनि कहते हैं कि ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो केवल एक क्षण रहने वाला हो। यह ज्ञान के सर्वथा विरुद्ध है।

फिर वैज्ञानिक अपनी युक्ति देते हैं कि संसार मिथ्या है, और संसार में होने से बन्धन भी मिथ्या है। अतएव दुःख के कारण ढूंढने की कोई जरूरत नहीं—वह स्वयं नाशरूप है।

कपिल मुनि कहते हैं कि इस जगत् को केवल मिथ्या ज्ञान

या विज्ञान मात्र नहीं कह सकते; क्योंकि विज्ञान आन्तरिक अर्थात् भीतर ही होता है और जगत् भीतर और बाहर दोनों दशाओं में प्रगट है। इसलिये जगत् को मिथ्या कहना अशुद्ध है। और इस कारण दुःख भी मिथ्या नहीं है।

शून्यवादी अपनी युक्ति देते हैं कि "जितने पदार्थ हैं, सब शून्य हैं; और जो कुछ भाव है, वह सब नाशवान् हैं, और जो विनाशी हैं, वे स्वप्न की तरह मिथ्या हैं"। इससे सम्पूर्ण वस्तुओं के आदि और अन्त का तो अभाव सिद्ध ही हो गया। अब रहा केवल मध्य भाग। वह पदार्थ नहीं। तब कौन किसको बांध सकता है ? और कौन छोड़ सकता है ? इस हेतु से बन्ध या दुःख भी मिथ्या ही प्रतीत होता है।

कपिल मुनि इसका समाधान करते हैं कि जब दुःख को शून्य समझा गया, तो उसकी निवृत्ति का उपाय करना भी व्यर्थ है। तब मुक्ति भी शून्य होगी। इसके लिये साधन भी शून्य होंगे। ऐसे शून्य पदार्थ के लिये पुरुषार्थ भी शून्य होगा। ऐसी अवस्था में शून्यवादी का मत शान्ति देने वाला नहीं हो सकता।

यदि यह कहा जाय कि गति विशेष से जीवात्मा को दुःख होता है—यह भी ठीक नहीं। गति शब्द के तीन अर्थ हैं—ज्ञान, गमन और प्राप्ति। ज्ञान तो दुःख का हेतु हो नहीं सकता। गमन शरीर आदि में होता है, वह जीव का स्वाभाविक धर्म होने से दुःख का कारण नहीं हो सकता। प्राप्ति जीव को ब्रह्म और प्रकृति व्यापक होने से सर्वदा प्राप्त है। जो सर्वदा प्राप्त

है, वह भी बन्ध का हेतु नहीं। इसलिये गति विशेष से भी बन्ध नहीं। फिर दुःख का कारण क्या है? अब इस पर कपिल मुनि अपना मत प्रकाशित करते हैं।

दुःख का कारण जीवात्मा की अल्पज्ञता है। इस अल्पज्ञता के कारण उसे प्रकृति का विवेक नहीं रहता। इस कारण प्राकृतिक पदार्थों में मिथ्याज्ञान उत्पन्न होता है। उस मिथ्या-ज्ञान से राग तथा द्वेष उत्पन्न होते हैं। और इस राग द्वेष से बन्धन अर्थात् दुःख होता है। जीव स्वभाव से न बद्ध है और न मुक्त है। दोनों नैमित्तिक धर्म हैं; जैसे, वायु स्वभाव से न उष्ण है न शीतल है। दोनों इसके नैमित्तिक धर्म हैं। प्रवाह से यह धर्म अनादि है और स्वरूप से सादि है। जिस प्रकार अन्ध-कार को दूर करने का एक मात्र उपाय प्रकाश है; इसी प्रकार अज्ञान और अविवेक को दूर करने का एक मात्र उपाय विवेक है।

"प्रधानाविवेकादन्याविवेकस्य तद्धाने हानम्"

प्रधान अर्थात् प्रकृति के अविवेक होने से अन्य पदार्थों का भी अज्ञान पैदा होता है। जब इसका अविवेक हट जायगा, तब सब पदार्थों का अज्ञान हट जाने से दुःख से भी मनुष्य निवृत्त हो जायगा। इसलिये प्रकृति का अविवेक ही सब दुःखों का मूल कारण है।

प्रकृति

अब दूसरा प्रश्न यह उपस्थित होता है कि प्रकृति किसको

कहते हैं, जिसके अविवेक से हम दुःखी हो रहे हैं। कपिल मुनि प्रकृति का निम्न लक्षण करते हैं।

"सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, प्रकृतेर्महान्, महतोऽहङ्कारोऽङ्कारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणाः"॥

प्रकृति एक शक्ति तथा क्रिया सम्पन्न द्रव्य है; जिसमें सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण साम्यावस्था में रहते हैं। जब इन गुणों में क्षोभ होता है, तब उसका विकास होना आरम्भ होना है। प्रकृति का विकास बुद्धितत्त्व तक है। उसके पश्चात् एक और शक्ति है, जो पुरुष नाम से प्रसिद्ध है। वह प्रकृति से सर्वथा भिन्न है। उसकी शक्तियों का विकास प्रकृति के विवेक पर आश्रित है। ज्यों २ प्रकृति और उसकी विकसित शक्तियों का विकास होता है, दुःखों की मात्रा कम होती जाती है। जब पूर्ण विकास हो जाता है, तब दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति हो जाती है। उसीको मोक्ष कहते हैं।

प्रकृति का विकास निम्न प्रकार है—

बुद्धितत्त्व सबसे अधिक सूक्ष्म; बुद्धितत्त्व से कम सूक्ष्म अहंकार अहंकार से कम सूक्ष्म शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श; इनसे कम सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियां; इसके पश्चात् पञ्चस्थूल भूत—पृथ्वी, जल, आकाश, वायु और तेज। इस विकास की खूबी यह है कि यह अत्यन्त सूक्ष्म से आरम्भ

होकर स्थूल भूतों तक जाता है। इन सबका यथार्थ विवेक या ज्ञान दुःखों को दूर कर सकता है।

प्रकृति ही इस सृष्टि का उपादान कारण है। यदि पुरुष को उपादान कारण मान लें, तो जगत में पुरुष के चेतनत्वादि गुण होने चाहिये क्योंकि प्रत्यक्ष जगत् जड़ है, इसलिये वह पुरुष का कार्य नहीं। यदि चेतन उपादान कारण हो, तो कार्य भी चेतन होना चाहिए। परन्तु कार्य चेतन नहीं प्रत्युत जड़ है। इसलिये प्रकृति ही इस संसार का उपादान कारण है।

कई तत्ववेत्ता समझते हैं कि यह सृष्टि अभाव से उत्पन्न हुई है। कपिल मुनि कहते हैं कि अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

"नावस्तुनो वस्तुसिद्धिः"।

अवस्तु से वस्तु की सिद्धि कैसे हो सकती है।

यदि यह कहा जाय कि जगत् भी अवस्तु है, तो यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि न तो स्वप्न के पदार्थों के तुल्य जगत् का किसी अवस्था विशेष से बाध होता है; जैसे स्वप्नावस्था के पदार्थों का जागृतावस्था में बाध हो जाता है। और न ही जगत् किसी इन्द्रिय के दोष से प्रतीत होता है। इसलिये जगत् मिथ्या नहीं है।

"न कर्मणोपादानत्वायोगात्" ॥

कर्म से जगत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती; क्योंकि कर्म

कोई द्रव्य नहीं है। द्रव्य का उपादान कारण द्रव्य ही हो सकता है।

प्रकृति का ज्ञान कैसे हो ?

तीसरा प्रश्न यह है कि इस प्रकृति और इस विकृति का ज्ञान कैसे हो ? कपिलाचार्य कहते हैं कि ज्ञान प्राप्त करने के लिये तीन प्रमाण हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द।

जो इन्द्रियों द्वारा ज्ञान होता है, वह प्रत्यक्ष कहलाता है। वह प्रत्यक्ष दो प्रकार का है—बाह्य प्रत्यक्ष और आन्तरीय प्रत्यक्ष। बाह्य प्रत्यक्ष तो 'इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्न' ज्ञान है और आन्तरीय प्रत्यक्ष योगियों को होता है; जो प्रतिबोध अथवा ऋतम्भरा प्रज्ञा (Intuition) द्वारा सूक्ष्मतत्त्वों को प्रत्यक्ष करते हैं। जब कपिल मुनि "ईश्वरासिद्धेः" ईश्वर असिद्ध है, कहते हैं, तो उनका तात्पर्य यही है कि इन्द्रियों द्वारा उसका बाह्य प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। उसका प्रत्यक्ष आन्तरीय प्रत्यक्ष है। जो प्रतिबोध द्वारा होता है। इसी प्रकार प्रकृति का ज्ञान भी समझो। हम केवल विकृति का अर्थात् सृष्टि का इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष कर सकते हैं और वह भी पूरा २ नहीं। मूल प्रकृति का प्रत्यक्ष तो योगी ही प्रतिबोध द्वारा कर सकते हैं, या इस सृष्टि को देखकर प्रकृति या पुरुष का अनुमान कर सकते हैं। इसलिये दूसरा प्रमाण अनुमान के नाम से प्रसिद्ध है। इसका लक्षण निम्न प्रकार किया गया है—

"प्रतिबन्धदृशः प्रतिबद्धज्ञानमनुमानम्" ॥

धुएं को देखकर अग्नि का ज्ञान होना अनुमान प्रमाण है। इसी प्रकार इसी सृष्टि को देखकर प्रकृति को इसका उपादान कारण और ईश्वर को इसका निमित्त कारण का ज्ञान अनुमान द्वारा सिद्ध किया गया है।

तीसरा शब्द प्रमाण है। शब्द प्रमाण का लक्षण आचार्य निम्न प्रकार से करते हैं—

"आप्तोपदेशः शब्दः" ॥

आप्त पुरुष—ऋषि मुनि आदि, इनके वचनों पर श्रद्धा रख कर उनके बतलाये हुए ज्ञान पर विश्वास करना और उसे ठीक समझना शब्द प्रमाण है। इस जगत् के हर एक अंश में इसका प्रयोग हो रहा है। मुझे क्या मालूम कि हिमालय की चोटी अमुक हज़ार फीट ऊंची है। मैं विश्वास करता हूं कि यह उतनी ही हज़ार फीट ऊंची है, जितनी पुस्तकों में लिखी है; क्योंकि वे पुस्तकें उस विषय के आप्त पुरुषों द्वारा लिखी गई हैं।

इन तीन तरीकों से ही हम प्रकृति का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। न केवल प्रकृति का ही, प्रत्युत पुरुष (आत्मा) और ईश्वर का ज्ञान भी इन्हीं तरीकों से प्राप्त होता है।

पुरुष

कपिल मुनि इसके पश्चात् आत्मा अर्थात् पुरुष के अस्तित्व

और उसके स्वरूप का वर्णन करते हैं।

"शरीरादिव्यतिरिक्तः पुमान्"

शरीरादि से पृथक् जो वस्तु है, वही आत्मा है। जैसे संहत पदार्थ दूसरे के लिये सुख के देने वाले होते हैं; इसी प्रकार प्रकृत्यादि पदार्थ भी दूसरे के वास्ते हैं। वह दूसरा पुरुष है।

ये प्रकृत्यादि संहत पदार्थ भोग हैं। इनका कोई भोक्ता होना चाहिये। प्रकृत्यादि पदार्थ एक ही समय में स्वयं भोक्ता और भोग नहीं हो सकते। वही भोग और वही भोक्ता—ऐसी व्यवस्था अशुद्ध है। इसलिये इस भोग का भोक्ता पुरुष है जो प्रकृति से जुदा है—"संहतपरार्थत्वात्"।

त्रिगुणत्व विशिष्ट मानस प्रकृति है। अर्थात् सत्व, रज और तम इनसे जिनका सम्बन्ध है, उसे प्रकृति कहते हैं। परन्तु पुरुष इन सब अवस्थाओं का द्रष्टा है और निरीक्षक है। इसलिये वह प्रकृति से भिन्न है—"त्रिगुणादि विपर्ययात्"।

प्रकृति का रूप आधारवत् है अर्थात् वह एक पात्र है। उस पात्र में रखने को कोई वस्तु होनी चाहिये। खाली पात्र से क्या लाभ—अर्थात् आधेय चाहिये। वह आधेय आत्मा अर्थात् पुरुष है—"अधिष्ठानाच्च"।

जो लोग शरीरादि को भोक्ता मानते हैं, वे यह भूल जाते हैं कि ऐसा मानने से मोक्ष के उपाय करने में किसी की प्रवृत्ति नहीं होगी; क्योंकि शरीरादि का नाश होने पर अपने आप ही

मुक्ति हो जायगी। इसलिये कपिल मुनि कहते हैं कि आत्मा शरीरादि से पृथक् है।

"कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च"

कैवल्य की प्रवृत्ति ही इस बात को सिद्ध करती है कि कोई वस्तु ऐसी है जो इस शरीर के पश्चात् भी रहे, ताकि वह अपने किए हुए का फल भोग सके।

जब मैं गाढ़ निद्रा में से निवृत्त होकर प्रातःकाल उठता हूँ, तो मैं कहता हूँ कि आज मैं खूब सोया। ऐसा सुषुप्ति अवस्था का साक्षी मैं अपने आप हो जाता हूँ। इससे स्पष्ट है कि मैं उस सुषुप्ति अवस्था से भिन्न हूं—"सुषुप्त्यादिसाक्षित्वम्"।

इस प्रकार कपिल मुनि पुरुष अर्थात् जीवात्मा की सिद्धि कर तदनन्तर ईश्वर के विषय में अपने विचार प्रकट करते हैं।

ईश्वर

"व्यावृतोभयरुपः"।

ईश्वर, जीव और प्रकृति से सर्वथा भिन्न है। भगवान कृष्ण ने भी गीता में कहा है—

"उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
प्रकृति-पुरुषञ्चैव विद्धयनाद्युभावपि" ॥

प्रकृति और पुरुष को तुम अनादि समझो और परमात्मा पुरुष और प्रकृति से सर्वथा भिन्न है।

"नित्यमुक्तत्वञ्च"

परमात्मा नित्य मुक्त है। यही भाव योगदर्शन में भी है।

"क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः"।

क्लेश, कर्म और उसके जो फल से कभी नहीं छूआ गया, जो नित्य मुक्त है, वही ईश्वर है।

"औदासीन्यञ्च"

ईश्वर पक्षपात रहित है। न्यायी होने के कारण वह किसी का पक्ष नहीं लेता।

"उपरागात्कर्तृत्वं चित्सान्निध्यात् चित्सान्निध्यात्"।

जब प्रकृति के सम्बन्ध में आता है, तब वह इस संसार का कर्ता कहलाता है।

"साक्षात्सम्बन्धात्साक्षित्वम्"

जीवात्मा के साथ सम्बन्ध होने से वह उसका साक्षी है। वेद में भी लिखा है—

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखायाः०"

दो पक्षी जीवात्मा और परमात्मा एक वृक्ष पर बैठे हुए हैं। एक फल को खा रहा है और दूसरा उसे देख रहा है। इसलिये उस ईश्वर को साक्षी कहा है।

अन्त में ईश्वर, जीव तथा प्रकृति का स्वरूप वर्णन कर यह बतलाना चाहते हैं कि मुक्ति का मुख्य साधन इनका सम्यक् ज्ञान है। केवल कर्म मुक्ति के साधन नहीं हो सकते।

"नानुश्रविकादपि तत्सिद्धिः साध्यत्वेनाऽनावृत्तियोगादपुरुषार्थत्वम्" ।

ज्ञान रहित आनुश्रविक कर्मों के करने से भी मुक्ति नहीं हो सकती; क्योंकि वैसे कर्मों का बन्धन होने से उनका फल भी बन्धनयुक्त होगा। यह पुरुषार्थ भी नहीं कहला सकता। इसलिये अविवेक ही बन्धन का कारण है। वेद में भी यही कहा है—

"विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते" ॥

कर्म और ज्ञान को जो इकट्ठा समझता है, वह कर्मों द्वारा मृत्यु को तैर कर ज्ञान द्वारा अमृत को प्राप्त करता है। प्रथम अध्याय का यह सारांश समाप्त हुआ।

❀ ओ३म् ❀

सांख्य-दर्शन

प्रथम अध्याय

"अथ त्रिविधदुखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः"॥१॥

(अथ) अब (त्रिविधदुखात्यन्तनिवृत्तिः) तीन प्रकार के दुखों का समूल नाश (अत्यन्तपुरुषार्थः) मुख्य उद्देश्य है।

तीन प्रकार के दुःखों का समूल नाश कर देना प्राणिमात्र का मुख्य उद्देश्य है।

तीन प्रकार के दुःख निम्न हैं:—

शारीरिक दुःख=रोगादि से जो दुःख होते हैं वे शारीरिक दुःख हैं।

आधिदैविक दुःख=भूचाल, बाढ़ तथा बिजली अग्नि आदि के प्रकोप से जो दुःख हो जाते हैं। वे आधिदैविक दुःख हैं।

मानसिक दुःख—क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, दम्भ, दर्प तथा राग द्वेषादि ये सब दुःख रूप ही हैं। इन्हें मानसिक दुःख कहते हैं।

"न दृष्टात्तत्सिद्धिर्निवृत्तेप्यनुवृत्तिदर्शनात्" ॥ २ ॥

(दृष्टात्) दृष्ट पदार्थों से (तत्सिद्धिः) उसकी सिद्धि (न) नहीं है

(निवृत्तेऽपि) दुःखों के निवृत्त हो जाने पर भी (अनुवृत्तिदर्शनात) पुनः होजाने से।

दुःखों का समूल नाश बाह्य साधनों द्वारा अर्थात् औषध्यादि द्वारा नहीं हो सकता। क्योंकि बाह्य साधनों से थोड़े काल के लिये दुखों का नाश अवश्य होगा; परन्तु फिर उनका उदय हो जाना सम्भावित है। यथा बुखार में कुनीन का प्रयोग किया गया तो बुखार उतर गया; परन्तु यह सम्भव नहीं कि पुनः बुखार कभी न हो।

"प्रात्याहिकक्षुत्प्रतीकारवत्तत्प्रतीकारचेष्टनात्पुरुषार्थत्वम्" ॥३॥

(प्रात्याहिकक्षुत्प्रतीकारवत्) प्रतिदिन भूख के इलाज की तरह (तत्प्रतिकार चेष्टनात्) दुःख के इलाज की चेष्टा से (पुरुषार्थत्वम्) पुरुषार्थ समझा जाय।

जिस प्रकार प्रति दिन भूख लगती है। भोजन कर लेने से वह निवृत्त हो जाती है। इसी प्रकार दुःख की निवृत्ति का उपाय किसी दृष्ट पदार्थ में ढूंढ लिया जाय तो क्या हानि है। इसी को मनुष्य अपना ध्येय बना ले। यह प्रश्न है।

"सर्वाऽसम्भवात्सम्भवेऽपि सत्तासम्भवात् हेयः प्रमाण कुशलैः" ॥४॥

(सर्वाऽसम्भवात्) सब असम्भव होने से (सम्भवेऽपि) सम्भव होने

पर भी (सत्तासम्भवात्) सत्ता के सम्भव होने पर (प्रमाण कुशलैः) जो विद्वान् और प्रवीण महानुभाव हैं उनसे यह तरीका (हेयः) त्याज्य है।

प्रत्येक स्थान पर सब बाह्य साधनों का मिलना असम्भव है। यदि मिल भी जायें तो फिर भी उन दुःखों का बीज बना रहेगा। इसलिये विद्वानों ने बाह्य साधनों से दुःखों का समूल नाश होना स्वीकार नहीं किया और इस तरीके को त्याज्य समझा है। यह तीसरे सूत्र का अर्थ है।

"उत्कर्षादपि मोक्षस्य सर्वोत्कर्षश्रुतेः" ॥ ५ ॥

(मोक्षस्य) मोक्ष का सुख (उत्कर्षादपि) उत्तम होने के कारण (सर्वोत्कर्षश्रुतेः) उसके सर्वोत्तम होने में वेद के प्रमाण होने से।

वेद में मोक्ष के सुख को सब सुखों से सर्वोत्तम समझा गया है। इसलिये यह परम सुख बाह्य साधनों से प्राप्त नहीं हो सकता। दुःखों का समूल नाश ही मोक्ष का सुख है।

"अविशेषश्चोभयोः" ॥ ६ ॥

(अविशेषः) भेद नहीं है (उभयोः) दोनों का (च) और।

यदि यह समझा जावे कि वैदिक कर्मों द्वारा दुःख समूल नाश किया जा सकता है, तो मुनि कहते हैं—ऐसा कहना भी अशुद्ध है। बाह्य साधन और वैदिक यागादि में कोई भेद नहीं है। दोनों साधन मोक्ष की प्राप्ति में अपर्याप्त हैं।

"न स्वभावतो बद्धस्य मोक्षसाधनोपदेशविधिः" ॥७॥

(स्वभावतो बद्धस्य) स्वभाव से बंधे हुए के लिये (मोक्षसाधनोपदेशविधिः) मोक्ष के साधन के उपदेश की विधि (न) नहीं है।

यदि यह समझा जाय कि जीव स्वभाव से बंधा हुआ है या दुःखी है, तब उसको मोक्ष का उपदेश देना व्यर्थ है; क्योंकि जो जिसका स्वभाव होता है, वह कभी दूर नहीं हो सकता।

"स्वभावस्यानपायित्वादननुष्ठानलक्षणमप्रामाण्यम्" ॥८॥

(स्वभावस्य) स्वभाव के (अनपायित्वात्) अविनाशी होने से (अननुष्ठानलक्षणम्) विधि रहित रूप (अप्रामाण्यम्) प्रामाणिक नहीं समझा जाना चाहिये।

स्वाभाविक गुण अविनाशी है। जब दुःख जीव का स्वाभाविक गुण मान लिया जावेगा; तब जिन मन्त्रों में दुःख दूर करने के उपदेश हैं; वे सब प्रामाणिक नहीं रहेंगे।

"नाशक्योपदेशविधिरुपदिष्टेऽप्यनुपदेशः" ॥९॥

(अशक्योपदेशविधिर्न) अशक्य–जो हो नहीं सकता उसके लिये उपदेश की विधि नहीं है। (उपदिष्टेऽपि) उपदेश किये जाने पर भी (अनुपदेशः) वह उपदेश नहीं है।

वेद में असम्भव बातों का उपदेश नहीं हो सकता। यदि हो भी तो वह उपदेश असम्भव होने के कारण उपदेश नहीं समझा जा सकता।

"शुक्लपटवद्बीजवच्चेत्" ॥१०॥

(शुक्ल पटवत्) सफेद कपड़े के समान (बीजवत्) बीज के समान (चेत्) यदि हो तो।

यह प्रश्न है। जिस प्रकार सफेद कपड़े को लाल या काले रंग का किया जा सकता है अर्थात् उसका स्वाभाविक सफेदी का रंग नाश किया जा सकता है। इसी प्रकार बीज का स्वाभाविक गुण भी बदला जा सकता है। या जिस प्रकार बीज में जो अङ्कुर पैदा करने की स्वाभाविक शक्ति है; वह बीज के जला देने से नाश की जा सकती है। इसी प्रकार जीव का स्वाभाविक गुण भी यदि दुःख मान लिया जावे तो वह भी नष्ट किया जा सकता है। यह प्रश्न है। इसका उत्तर अगले सूत्र में है।

"शक्त्युद्भवानुद्भवाभ्यां नाशक्योपदेशः" ॥ ११॥

(शक्त्युद्भवानुद्भवाभ्याम्) शक्ति के प्रगट और गुप्त होने से (अशक्योपदेशविधिर्न) जो हो न सके उसके उपदेश की विधि नहीं है।

उपरोक्त उदाहरण गुण के नाश को जाहिर नहीं करता। परन्तु गुण के लुप्त होने तथा प्रगट होने को जाहिर करता है। यदि सफेद कपड़े पर हमने लाल रंग कर दिया है, तो दो-तीन बार धोने से वह कपड़ा पुनः सफेद हो सकता है। सफेदी केवल लुप्त हो गई थी। सर्वथा नष्ट नहीं हुई थी। इसी प्रकार बीज का दृष्टान्त भी अशुद्ध है। जो बीज जला दिया गया है, उसमें भी कई औषधियों के प्रयोग से पुनः अंकुर उत्पन्न करने की शक्ति विद्यमान रहती है। ऐसा देखने में आया है।

"न कालयोगतो व्यापिनो नित्यस्य सर्वसम्बन्धात्" ॥ १२ ॥

(न) नहीं है (काल योगतः) काल के योग से (व्यापिनः) व्यापक के (नित्यस्य) नित्य के (सर्वसम्बन्धात्) सब में सम्बन्ध होने से।

यदि यह कहा जाय कि काल के योग से दुःख उत्पन्न होता है, तो यह अशुद्ध है। क्योंकि काल व्यापक है, नित्य है और सब के साथ सम्बद्ध है। इसलिये प्रत्येक को एक जैसा दुःख होना चाहिये और हर समय दुःख होना चाहिये। परन्तु यह देखने में नहीं आता। और दूसरा जीवन्मुक्त के लिये भी दुःख मानना पड़ेगा; क्योंकि वह भी काल में रहता है।

"न देशयोगतोऽप्यस्मात्" ॥१३॥

(अस्मात्) इस हेतु से (न देशयोगतोऽपि) देश योग से भी नहीं है।

इसी तरह देश के सम्बन्ध से भी पुरुष को दुःख का योग न समझा जाय। क्योंकि देश का सम्बन्ध भी नित्य है और सब के साथ है। अन्यथा जीवन्मुक्तों के लिये बन्धन या दुःख की सम्भावना बनी रहेगी।

"नावस्थातो देहधर्मत्वात्तस्याः" ॥१४॥

(न) नहीं है (अवस्थातः) अवस्था से बन्धन (देह धर्मत्वात्) देह धर्म होने से (तस्याः) अवस्था का (बाल्यावस्था, यौवनावस्था तथा वृद्धावस्था) का सम्बन्ध देह अथवा शरीर से है। आत्मा से कुछ भी नहीं। इसलिये आत्मा को इनसे दुःख या बन्धन नहीं होना चाहिये।

"असङ्गोऽयं पुरुष इति" ॥ १५ ॥

(असङ्गोऽयं पुरुषः) यह पुरुष संग रहित है।

यह आत्मा संग रहित है। यद्यपि शरीर के साथ इसका

संयोग है। परन्तु यह संयोग उसी तरह है, जैसे कमल पत्र का जल में संसर्ग है।

"न कर्मणान्यधर्मत्वादतिप्रसक्तेश्च" ॥ १६ ॥

(न कर्मणा) कर्म से भी बन्ध नहीं है (अन्यधर्मत्वात्) अन्य का धर्म होने से (अतिप्रसक्तेः) अति व्याप्ति होने से।

वेद विहित या निषिद्ध कर्मों से भी जीव को दुःख का योग नहीं है। क्योंकि कर्म करना भी शरीर या चित्त का धर्म है। और दूसरा कर्म का अति संयोग होने से कर्म संस्कार प्रलय में भी बना रहता है। इसलिये यदि कर्म से बन्धन माना जाय तो प्रलय में भी बन्धन की प्राप्ति होगी। परन्तु ऐसा किसी शास्त्र में नहीं लिखा है।

"विचित्रभोगानुपपत्तिरन्यधर्मत्वे"॥१७॥

(अन्यधर्मत्वे) अन्य के धर्म होने से (विचित्रभोगानुपपत्तिः) विचित्र भोगों की सिद्धि नहीं होगी।

यदि चित्त को ही दुःख का कारण समझ लिया जाय, तो कोई सुखी और कोई दुःखी इस प्रकार का विचित्र भोग दिखलाई नहीं देना चाहिये। सब दुःखी ही दिखलाई दें।

"प्रकृतिनिबन्धनाच्चेन्न तस्या अपि पारतन्त्र्यम्"॥१८॥

(प्रकृतिनिबन्धनाच्चेत्) यदि प्रकृति के निमित्त से बन्ध माना जाय (न) नहीं है (तस्या अपि) उसके भी (पारतन्त्र्यम्) परतन्त्र होने से।

यदि प्रकृति के निमित्त से पुरुष को दुःख का योग माना जाय, तब प्रकृति तो स्वयं परतन्त्र है। परतन्त्र प्रकृति दूसरे को कैसे बांध

सकती है। इसलिये प्रकृति के कारण पुरुष को बन्धन है। यह भी अशुद्ध है।

"न नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य तद्योगस्तद्योगा-द्दते" ॥१६॥

(नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य) जो आत्मा नित्य शुद्ध, बुद्ध और मुक्त स्वभाव वाली है उसको (न) नहीं है (तद्योगः) उस दुःख का योग (तद्योगाद्दते) उसके योग के बिना।

परमात्मा शुद्ध, बुद्ध और मुक्त स्वभाव वाले हैं। उनको दुःख का योग तो कभी हो नहीं सकता; क्योंकि वह स्वभाव से ही दुःख रहित है। जीवात्मा अल्पज्ञ होने के कारण, जब उसे प्रकृति का योग होता है तो मिथ्याज्ञान के कारण वह बद्ध हो जाता है। यह कहना कि परमात्मा हो अविद्या से जीव होकर दुःख भोगता है; यह अशुद्ध है।

"नाविद्यातोऽप्यवस्तुनाबन्धायोगात्" ॥२०॥

(नाविद्यातोऽपि) अविद्या से भी बन्ध नहीं है (अवस्तुनाबन्धायोगात) अवस्तु से बन्ध योग न होने से।

अविद्या किसी बस्तु का नाम नहीं है; जिससे आवृत होकर जीव को दुःख का योग हो।

"वस्तुत्वे सिद्धान्तहानिः" ॥२१॥

(वस्तुत्वे) वस्तु मानने पर (सिद्धान्त हानिः) सिद्धान्त की हानि है।

यदि अविद्या को वस्तु मान लिया जाय तो अद्वैत सिद्धान्त

नहीं रहता है। क्योंकि दो पदार्थ नित्य मानने पड़ेंगे एक ब्रह्म और दूसरी अविद्या।

"विजातीयद्वैतापत्तिश्च" ॥ २२ ॥

(च) और (विजातीये) विजातीय में—भिन्न जाति मानने पर (द्वैतापत्तिः) द्वैत की सिद्धि हो गई।

यदि अविद्या को विजातीय पदार्थ मान लिया जाय, तो द्वैत की सिद्धि हो जाती है और अद्वैतवाद का खण्डन स्पष्ट हो जाता है।

"विरूद्धोभयरुपाचेत्" ॥२३॥

(विरुद्धोभयरुपाचेत) यदि अविद्या को सत और असत् विरुद्ध दोनों रूपों वाला मानो।

यदि अविद्या को सत और असत् दोनों रूप से माना जाय तो क्या हानि है ?

"न तादृक् पदार्थाप्रतीतेः"॥२४॥

(अप्रतीतेः) प्रतीति न होने से (न तादृक् पदार्थः) इस प्रकार का कोई पदार्थ नहीं है।

ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो सत् और असत् दोनों हो।

"न वयं षट्पदार्थवादिनो वैशेषिकादिवत्"॥२५॥

(वैशेषिकादिवत्) वैशेषिकादि के समान (न वयम्) हम नहीं हैं (षट्-पदार्थ वादिनः) छः पदार्थ के मानने वाले।

हम वैशेषिकादि की तरह ६ पदार्थ नहीं मानते। इसलिये अविद्या सत् और असत् इन दोनों से विलक्षण है और वही

बन्ध का हेतु है। यह प्रश्न है। (अगले सूत्र में इसका उत्तर है)

"अनियतत्वेऽपि नायौक्तिकस्य संग्रहोऽन्यथा बालोन्मत्तादि समत्वम्"॥२६॥

(अनियतत्वेऽपि) नियत न होने पर भी (अयौक्तिकस्य) युक्ति विरुद्ध का (न संग्रहः) संग्रह नहीं हो सकता (अन्यथा) वरना (बालोन्मत्तादिसमत्वम्) बालक वा मतवाले के सदृश काम समझा जावेगा।

यदि अविद्या को नियत पदार्थ न समझा जाय या उसको सत् और असत् दोनों समझ लिया जाए, अथवा उसको इन दोनों से विलक्षण समझ लिया जाय, तो वह युक्ति-युक्त प्रतीत नहीं होता। यह मत बालकों या मतवाले लोगों को शायद मान्य हो परन्तु विद्वान् ऐसा नहीं मान सकते।

"नाऽनादिविषयोपरागनिमित्ततोऽप्यस्य"॥२७॥

(न) नहीं है (अनादिविषयोपरागनिमित्ततः) अनादि प्रवाह रूप वासना के निमित्त से बन्धन (अपि) भी (अस्य) इसका।

यदि यह समझा जाय कि जीव अनादि वासना से बन्धन में पड़ा है और दुःख भोग रहा है, तो यह भी अशुद्ध है, उसका कारण अगले सूत्र में बतलाते हैं।

"न बाह्याभ्यन्तरयोरुपरज्योपरञ्जकभावोऽपि देशव्यवधानात्स्रुघ्नस्थपाटलिपुत्रस्थयोरिव"॥२८॥

(देशव्यवधानात्) देशके अन्तर होने से (स्रुघ्नस्थपाटलिपुत्रस्थयोः) आगरा तथा पटना के रहने वाले के (इव) समान (बाह्याभ्यन्तरयोः) बाहर और अन्दर दोनों में (नोपरज्योपरञ्जकभावः) उपरज्य और उपरञ्जक भाव नहीं हो सकता।

जो लोग आत्मा को देह के अन्दर मानते हैं और विषय वासनायें बाहर के पदार्थों से स्फुरित होती हैं। तो उनके दरम्यान अति देश का अन्तर है। जहां इतना फासला हो वहां एक दूसरे के साथ सम्बन्ध होना कठिन है। जैसे पटना का रहने वाला आगरे के रहने वाले को नहीं बांध सकता। या जैसे वस्त्र और उसके ऊपर जो रंग चढ़ाना है, उसमें कुछ अन्तर हो तो रंग नहीं चढ़ सकता। इसी प्रकार आत्मा और विषयों के दरम्यान बहुत फासला है। ऐसी हालत में वासनायें आत्मा को नहीं बांध सकतीं।

"द्वयोरेकदेशलब्धोपरागान्न व्यवस्था"॥२६॥

(द्वयोः) दोनों का (एकदेशलब्धोपरागात) एक देश में लब्ध उपराग होने से (न व्यवस्था) व्यवस्था नहीं होगी।

यदि यह माना जाय कि विषयों का मन के साथ सम्बन्ध है और मन तथा आत्मा का निवास एक ही देश में है, तब आत्मा पर भी उन विषयों का प्रभाव पड़ता है। तो यह अशुद्ध है। क्योंकि ऐसा समझने से जीवन्मुक्त को भी बन्ध होना चाहिये।

अब क्षणिकवादियों का खण्डन करते हैं—

"अदृष्टवशाच्चेत्"॥३०॥

(चेत) यदि मान लिया जाय (अदृष्टवशात्) पूर्व किये हुए धर्म और अधर्म से पैदा हुई भोग शक्ति द्वारा।

यदि यह मान लिया जाय कि जीव को दुःख उसके पूर्व

किये हुए धर्म और अधर्म के संस्कारों की बदौलत होते हैं।

"न द्वयोरेककालायोगादुपकार्योपकारकभावः" ॥३१॥

(द्वयोः) दोनों का (एककालायोगात्) एक काल के योग न होने से (न उपकार्योपकारकभावः) जिस पर उपकार किया जाय वह उपकार्य और जो उपकार करने वाला है, वह उपकारक इनका सम्बन्ध नहीं हो सकेगा।

क्षणिकवादियों के मत में एक स्थिर आत्मा नहीं है और संसार भी क्षण २ में तब्दील होरहा है। ऐसी अवस्था में कर्ता और भोक्ता के एक काल में न होने से उपकार्य्य और उपकारक भाव नहीं रह सकता। सारांश यह है कि भोग शक्ति और आत्मा का कारण कार्य सम्बन्ध तभी स्थिर हो सकता है, जब एक स्थिर आत्मा को स्वीकार किया जावे। परन्तु क्षणिक-वादियों के मत में ऐसा मानना असम्भव है, क्योंकि उनके अनुसार प्रत्येक क्षण में तब्दीली हो रही है।

"पुत्रकर्मवदितिचेत्" ॥३२॥

(पुत्रकर्मवत्) पुत्र कर्म की तरह (इति चेत्) यदि समझा जाय।

जिस प्रकार एक ही काल में गर्भाधान होता है और उसी ही काल में उसका संस्कार होता है। इसी प्रकार एक काल में उत्पन्न होने वाले पदार्थों में पूर्वकथित सम्बन्ध हो सकते हैं।

"नास्ति हि तत्र स्थिर एकात्मा यो गर्भाधानादिना संस्क्रियते" ॥३३॥

(यः) जो (गर्भाधानादिना) गर्भाधानादि से (संस्क्रियते) संस्कार किया जाता है (नास्ति) नहीं है (तत्र) वहां (स्थिर-आत्मा) कोई स्थिर आत्मा।

क्षणिकवादियों के मत में कोई स्थिर आत्मा ही नहीं जिसका गर्भाधान आदि से संस्कार किया जाय इसलिये उपरोक्त दृष्टान्त ठीक नहीं।

"स्थिरकार्यासिद्धे क्षणिकत्वम् ॥३४॥

(स्थिरकार्यासिद्धे) स्थिर कार्य की सिद्धि न होने से (क्षणिकत्वम्) क्षणिक होना।

यदि बन्धन को भी क्षणिक माना जाय तो कोई स्थिर कार्य की सिद्धि नहीं हो सकेगी। इसलिये कार्य को क्षणिक मानने में कई दोष उत्पन्न हो जायेंगे। जैसे अगले सूत्रों में जाहिर किया है।

"न प्रत्यभिज्ञाबाधात्" ॥३५॥

(प्रत्यभिज्ञाबाधात्) जिस वस्तु को मैंने कल देखा था उसीको मैं आज स्पर्श कर रहा हूँ—इसे प्रत्यभिज्ञा कहते हैं। इस प्रत्याभिज्ञा की बाधा होने से (न) क्षणिक वाद नहीं चल सकता।

क्षणिक वादियों के मत में जो वस्तु मैं इस समय देख रहा हूँ, वह दूसरे क्षण में नष्ट हो जाती है। दूसरे क्षण में वह दूसरी वस्तु है। परन्तु यह सिद्धान्त सामान्य ज्ञान के विरुद्ध है। क्योंकि वर्षों के पश्चात् भी जिस चीज़ को मैंने पूर्व देखा था, उसे ज्यं का त्यं मैं इस समय देखता हूँ और उसे पहचानता

हूँ। ऐसी अवस्था में यह कहना कि कोई वस्तु स्थिर ही नहीं यह अशुद्ध है।

"श्रुतिन्यायविरोधाच्च"॥३६॥

(श्रुतिन्यायविरोधात्) वेद और तर्क के विरुद्ध होने से (च) और।

यह कहना कि प्रत्येक वस्तु क्षणिक है। यह तर्क और वेद के विरुद्ध है।

"दृष्टान्तासिद्धेश्च"॥३७॥

(दृष्टान्तासिद्धेः) दृष्टान्त से भी असिद्ध होने से (च) और।

दीप शिखा का दृष्टान्त क्षणिकवादी दिया करते हैं। इस दृष्टान्त से भी उनका मत संपुष्ट नहीं हो सकता, क्योंकि दीप शिखा भी कई क्षण तक एक जैसी बराबर बनी रहती है।

"युगपज्जायमानयोर्न कार्यकारणभावः"॥३८॥

(युगपज्जायमानयोः) जो पदार्थ एक साथ उत्पन्न होते हैं उनका (न) नहीं है (कार्यकारणभावः) कार्य कारण सम्बन्ध।

यदि यह समझा जाय कि मृत्तिका और घट एक ही क्षण में उत्पन्न हुए हैं और घट का मृत्तिका कारण है; तो युक्ति अशुद्ध है। क्योंकि ऐसा कोई दृष्टान्त नहीं देखा गया जिस में कार्य और कारण की उत्पत्ति एक साथ ही हुई हो।

"पूर्वापाये उत्तरायोगात्" ॥ ३९ ॥

(पूर्वापाये) पूर्व के नाश होने पर (उत्तरायोगात्) उत्तर का योग न होने से।

मृत्तिका जो इस क्षण में उत्पन्न हुई और दूसरे क्षण में

नष्ट होगई। वह घट कार्य का कारण नहीं होसकता। इसलिये क्षणिक वादी कार्य कारण के भाव को अपने मतानुसार सिद्ध करने में असमर्थ हैं।

"तद्भावे तदयोगादुभय-व्यभिचारादपि न" ॥ ४० ॥

(तद्भावे) उसके भाव में अर्थात कारण की विद्यमानता में (तदयोगात्) उसका योग न होने से अर्थात कार्य के साथ उसका सम्बन्ध न होने से (उभयव्यभिचारादपि) दोनों दशाओं में व्यभिचार दोष होने से भी (न) कार्य कारण सम्बन्ध नहीं होसकता।

जब उपादान होता है, तब उपादेय की उत्पत्ति होती है। अर्थात् जब कारण होता है, तभी कार्य हो सकता है। क्षणिक होने में अन्वयव्यतिरेक के व्यभिचार होने से कार्य कारण का भाव सिद्ध नहीं होसकता।

"पूर्वभावमात्रे न नियमः" ॥ ४१ ॥

(पूर्वभावमात्रे) केवल वस्तु के पूर्व-भाव मानने के कारण कार्य का (न नियमः) नियम नहीं रहेगा।

केवल कारण उस वस्तु को समझना चाहिये जो झटिति पूर्व आया हो और उसके कार्य का अनुमान करना नियम विरुद्ध है। क्योंकि कार्य से पूर्व तो कई वस्तुएं हैं। उन में से किस को कारण माना जाय और किस को न माना जाय; यह व्यवस्था नहीं रहेगी। The cause is not that which precedes the effect but it is that which produces the effect.

अब विज्ञान वादियों का खण्डन करते हैं:—

विज्ञान वादी यह समझते हैं कि जो कुछ संसार में है; वह सब मिथ्या है, क्योंकि मन: कल्पित है। इसलिये दुःख का बन्धन भी मिथ्या है। जो मिथ्या है; वह नाश रूप है। इस लिये उसके कारण जानने की आवश्यकता नहीं।

"न विज्ञानमात्रं बाह्यप्रतीतेः" ॥४२॥

(बाह्यप्रतीतेः) बाह्य जगत् की प्रतीति होने से (न विज्ञानमात्रम्) संसार केवल मन की कल्पना नहीं है।

यह कहना कि संसार मिथ्या है; क्योंकि यह केवल मन की कल्पना है; अशुद्ध है। क्योंकि प्रत्यक्ष रूप में हम संसार को अपने से बाहर की ओर प्रतीत करते हैं।

"तदभावे तदभावाच्छून्यं तर्हि" ॥ ४३ ॥

(तदभावे) तो उसके अभाव में (तदभावात्) उसके अभाव से (शून्यं-तर्हि) तब शून्य होगा।

यदि संसार की वास्तविक सत्ता स्वीकार न करेंगे तो विज्ञान का भी अभाव मानना पड़ेगा। क्योंकि ज्ञान तभी होता है, जब ज्ञेय सन्मुख हो। यदि ज्ञेय का अभाव माना जायेगा, तब ज्ञान का अभाव तो स्वयं सिद्ध हो गया। ऐसी अवस्था में शून्य रह जायगा।

अब शून्यवादियों के मत का खण्डन करते हैं।

शून्यवादी अपनी युक्ति निम्न प्रकार देते हैं—

"शून्यं तत्त्वं भावो विनश्यति वस्तु-धर्मत्वात् विना-शस्य"॥४४॥

(शून्यं तत्वम्) शून्य ही तत्व है अर्थात् जितने पदार्थ हैं, वे सब शून्य हैं (भावोविनश्यति) जो कुछ भाव है, वह सब नाशवान् है (वस्तु-धर्मत्वात्) वस्तुधर्म होने से (विनाशस्य) विनाश के।

शून्य ही तत्व है। क्योंकि सब भाव का नाश होता है और जो विनाशी है, वह स्वप्नवत् मिथ्या है। इससे सब वस्तु का आदि और अन्त में अभाव मात्र होने से मध्य में क्षणिक होने से बन्ध आदि भी मिथ्या हैं। क्योंकि नाश होना सब वस्तुओं का धर्म है।

"अपवादमात्रमबुद्धानाम्"॥४५॥

(अबुद्धानाम्) मूर्खों का (अपवादमात्रम्) अपवाद मात्र है।

यह कहना कि सब कुछ नाशवान् है और इसलिये शून्य और मिथ्या ही है। यह केवल मूर्खों की बकवास है।

"उभयपक्षसमानक्षेमत्वादयमपि"॥४६॥

(उभयपक्षसमानक्षेमत्वात्, दोनों पक्षों में खण्डन के हेतु एक समान होने से (अयमपि) यह भी।

जिस प्रकार क्षणिकवादियों और विज्ञानवादियों का मत खण्डित किया जासकता है; उसी प्रकार उन्हीं युक्तियों से शून्यवादियों का मत भी खण्डित हो सकता है। क्योंकि शून्यवाद के मानने से पुरुषार्थ अर्थात् मुक्ति का भी अभाव मानना पड़ेगा।

"अपुरुषार्थत्वमुभयथा"॥४७॥

(उभयथा) दोनों प्रकार से (अपुरुषार्थत्वम्) पुरुषार्थ न होना।

शून्यवादी के मत में पुरुषार्थ अर्थात मुक्ति नहीं हो सकती। क्योंकि जब दुःख है ही नहीं; केवल शून्य ही है, तो उसकी निवृत्ति का उपाय क्यों किया जाय? क्योंकि मुक्ति भी शून्य होगी और उसके साधन भी शून्य ही होंगे।

"न गति विशेषात्" ॥ ४८ ॥

(गति) ज्ञान, गमन, प्राप्ति (विशेषात्) इसके विशेष होने से (न) बन्ध नहीं है।

यदि यह समझा जाय कि ज्ञान विशेष से अथवा जीव के गमन आगमन की गति के विशेष से या प्राप्त होने वाले पदार्थों से बन्ध होता है, तो यह अशुद्ध है। क्योंकि ज्ञान विशेष से बन्ध क्यों कर हो सकता है, वह तो मुक्तिका हेतु है। गमन विशेष तो शरीरादि में होता है। वह जीवका स्वाभाविक धर्म होने से बन्ध का हेतु नहीं हो सकता। ब्रह्म और प्रकृति व्यापक होने के कारण जीव को सदा प्राप्त है इस लिये उनसे भी बन्ध मानना निष्प्रयोजन है।

"निष्क्रियस्य तदसम्भवात्" ॥ ४९ ॥

(निष्क्रियस्य) क्रिया रहित को (तदसम्भवात्) वह असम्भव होने से।

यदि जीव विभु है, (जैसा कई समझते हैं) तो उसमें क्रिया नहीं हो सकती तब गति से बन्ध मानना उचित नहीं।

क्योंकि वह विभु पुरुष में नहीं हो सकता।

"मूर्तत्वाद्घटादिवत्समानधर्मापत्तावपसिद्धान्तः" ॥५०॥

(मूर्तत्वात्) मूर्त होने से (घटादिवत) घट आदि की तरह (समानधर्मापत्तौ) समान धर्म प्राप्त होने में (अपसिद्धान्तः) सिद्धान्त के विरुद्ध होगा।

यदि आत्मा को मूर्तिमान् समझा जाय, तो वह घट आदि की तरह कभी टूटेगा और कभी बनेगा। अर्थात् वह सावयव होगा और नाशरूप होगा। वह आत्मा नित्य नहीं रहेगा। ऐसा मानने में अपने सिद्धान्त का खण्डन करना है। क्योंकि सर्व सम्मति से यह माना जा चुका है कि आत्मा नित्य है, अजर है और अमर है। इस लिये उसमें गति विशेष से दुःख माना नहीं जासकता।

"गतिश्रुतिरप्युपाधियोगादाकाशवत्" ॥५१॥

(उपाधियोगात्) उपाधि के योग से (आकाशवत्) आकाश के तुल्य (गतिश्रुतिः) गति अर्थ में श्रुति है।

आत्मा में जो गति दिखलाई देती है, वह सूक्ष्म शरीर-रूपी उपाधि के कारण है। जैसे आकाश-घट की उपाधि से चलता है। क्योंकि घट में जो आकार है, जहां घट जायेगा। वहां उसका आकाश भी साथ ही जायगा।

"नकर्मणाप्यतद्धर्मत्वात्" ५२॥

(न)नहीं (कर्मणापि)अदृष्ट कर्म से भी (अतद्धर्मत्वात्) उसकाधर्म न होने से।

अदृष्ट कर्म से भी आत्मा को बन्धन नहीं हो सकता; क्योंकि ये कर्म भी शरीर बिना नहीं हो सकते।

"अतिप्रसक्तिरन्यधर्मत्वे" ॥५३॥

(अन्यधर्मत्वे) अन्य के धर्म होने में (अतिप्रसक्तिः) अतिप्रसक्ति होगी।

यदि अन्य के धर्म से किसी अन्य को बन्धन मान लें तो अव्यवस्था हो जायगी और मुक्त भी बन्धन में आजायेंगे।

"निर्गुणादिश्रुतिविरोध श्चेति" ॥५४॥

(च)और (निर्गुणादिश्रुतिविरोधः)

जिन मन्त्रों में आत्मा को निर्गुण आदि लिखा है, उनमें विरोध आजायगा। श्रुति में लिखा है—

"साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च"

आत्मा साक्षी रूप है और निर्गुण है।

यदि आत्मा को बिना उपाधि के बन्धन मानलिया जायगा, तो श्रुति में जो आत्मा का स्वरूप लिखा है उसका खण्डन हो जायगा। इसलिये जीव न स्वभाव से बद्ध है और न मुक्त है। ये दोनों औपाधिक धर्म हैं। प्रकृति संसर्ग से बद्ध हो जाता है और परमात्मा के संसर्ग से मुक्त हो जाता है। इसलिये बन्ध औपाधिक धर्म है। इति शब्द उपरोक्त बन्ध विषय की समाप्ति का सूचक है।

"तद्योगोऽप्यविवेकान्न समानत्वम्" ॥५५॥

(तद्योगोऽपि) उस (प्रकृति) का संयोग भी (अविवेकात्) अज्ञान

अथवा मिथ्याज्ञान से होता है (न समानत्वम्) समानत्व नहीं है।

अब प्रश्न यह है कि जब दुःख जीव का स्वभाविक धर्म नहीं है और न ही नैमित्तिक धर्म है; तो जीव को दुःख कैसे प्रतीत होता है ? इसका उत्तर इस सूत्र में दिया है कि दुःख की प्रतीति का कारण अविवेक है। प्रकृति का संयोग भी अविवेक से होता है। मुक्त पुरुषों में अविवेक नहीं होता। इसलिये यदि उनका प्रकृति के साथ संसर्ग हो भी जाय, तो भी यह संसर्ग बन्धन का हेतु नहीं हो सकता। बन्धन तभी होता है, जब अविवेक युक्त होकर प्रकृति का संसर्ग हो। इसलिये अविवेक ही दुःखों का मूल कारण है।

"नियतकारणात्तदुच्छित्तिर्ध्वान्तवत्" ॥ ५६ ॥

(नियतकारणात्) नियत कारण से (तदुच्छित्तिः) उस का नाश (ध्वान्तवत्) अन्धकार के समान होता है।

जिस प्रकार प्रकाश से अन्धेरा दूर होता है; उसी प्रकार विवेक रूपी नियत कारण से अविवेक रूपी अन्धकार का नाश होता है।

"प्रधानाऽविवेकादन्याविवेकस्य तद्धाने हानम्" ॥५७॥

(प्रधानाऽविवेकात्) प्रकृति के अविवेक से (अन्याविवेकस्य) अन्यों का भी अविवेक होता है (तद्धाने) उस अविवेक के नाश होने पर (हानम्) अन्यो का अविवेक भी नष्ट हो जाता है)

जीव अपनी स्वाभाविक अल्पज्ञता के कारण प्रकृति का सम्यक् ज्ञान नहीं रखता। उस तत्त्व के न जानने से उस

प्रकृति के बने हुये पदार्थों में भी उसे अज्ञान रहता है। वह अज्ञान राग, द्वेष, मोह, ममता, घृणा का उत्पादक है और इसी कारण ही जीव को दुःख होता है।

"वाङ्मात्रम् न तु तत्वं चित्तस्थितेः" ॥ ५८ ॥

(वाङ्मात्रम्) कथन मात्र है (न तु तत्त्वम्) वस्तुतत्त्व नहीं है (चित्तस्थितेः) चित्त में स्थित होने से।

वस्तुतः दुःख-सुख चित्त अथवा मन के धर्म हैं। आत्मा का मन के साथ संसर्ग होने से वह अपने आप को दुःखी और सुखी समझता है। अन्यथा आत्मा सुख-दुःख से पृथक् है।

"युक्तितोऽपि न बाध्यते दिङ्मूढवदपरोक्षादृते" ॥ ५९ ॥

(युक्तितोऽपि) युक्ति से भी (न) नहीं (बाध्यते) बाधा को प्राप्त होता है (दिङ्मूढवत्) दिशा भ्रम को प्राप्त होने वाले के समान (अपरोक्षादृते) विना प्रत्यक्ष साक्षात्कार ज्ञान के।

बिना साक्षात्कार किये केवल युक्तियों से अविवेक दूर नहीं हो सकता। जैसे किसी मनुष्य को पूर्व दिशा में उत्तर दिशा का भ्रम हो जाय, तो जब तक उसे पूर्व और उत्तर का भली भांति ज्ञान न हो जाय तब तक यह भ्रम दूर नहीं हो सकता। इसी प्रकार विवेक का साक्षात्कार किये बिना अविवेक दूर नहीं हो सकता।

"अचाक्षुषाणामनुमानेन बोधो धूमादिभिरिव वह्नेः" ॥६०॥

(अचाक्षुषाणाम्) जो वस्तुएं इन्द्रिय गोचर नहीं उनका (अनुमानेन) अनुमान से (बोधः) ज्ञान होता है (धूमादिभिरिव) धूएं आदि से जिस प्रकार (वह्नेः) आग का।

जो वस्तुएं प्रत्यक्ष नहीं उनका यथार्थ बोध अनुमान से होता है। जैसे धूएं को देखकर आग का ज्ञान होता है।

"सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, प्रकृतेर्महान्महतोऽहङ्कारोऽहङ्कारात्पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं, तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि, पुरुष, इति पञ्चविंशतिर्गणः"॥६१॥

(सत्वरजस्तमसाम्) सत्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण के (साम्यावस्था) समान रहने की अवस्था का नाम (प्रकृतिः) प्रकृति है (प्रकृतेर्महान्) प्रकृति से बुद्धितत्व उत्पन्न होता है। (महतोऽहङ्कारः) बुद्धितत्व से अहंकार=अभिमान (अहङ्कारात्पञ्चतन्मात्राणि) अहंकार से पञ्च तन्मात्राएं—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द (उभयमिन्द्रियम्) पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय तथा ११ वां मन, पांच ज्ञानेन्द्रियां—कर्ण, त्वचा, चक्षु, रसना तथा नासिका। पांच कर्मेन्द्रियां हाथ, पांव, गुदा, उपस्थ तथा वाक्। (तन्मात्रेभ्यः स्थूल भूतानि) पंच तन्मात्राओं से—पृथ्वी, जल, आकाश, वायु, अग्नि (पुरुषः) जीवात्मा (पञ्चविंशतिर्गणः) ये पच्चीस गण या पदार्थ हैं।

"स्थूलात्पञ्चतन्मात्रस्य"॥६२॥

(स्थूलात्) स्थूल—पृथ्वी, जल, आकाश, वायु तथा तेज इनसे (पञ्चतन्मात्रस्य) पञ्चतन्मात्राओं—पृथ्वी से गन्ध, जल से रस, आकाश

से शब्द, वायु से स्पर्श तथा तेज से प्रकाश-का अनुमान होता है।

"बाह्याभ्यान्तराभ्यांतैश्चाहङ्कारस्य"॥६३॥

(बाह्याभ्यान्तराभ्याम्) बाह्य और आभ्यान्तर इन्द्रियों से (अहङ्कारस्य) अहंकार का अनुमान होता है।

पञ्च ज्ञानेन्द्रिय पञ्चकर्मेन्द्रिय और मन को देखकर अहंकार का अनुमान होता है। समाधि या सुषुप्ति अवस्था में अहंकार नहीं रहता। उसका कारण यह है कि इन इन्द्रियों का भान नहीं होता है। जब जागृतावस्था में इन्द्रियों का भान होता है, तभी अहंकार उदय होता है। इसलिये इन इन्द्रियों द्वारा अनुमान लगाया गया है कि अहंकार की विद्यमानता किस प्रकार हुई है।

"तेनाऽन्तःकरणस्य" ॥६४॥

(तेन) उस अहंकार से (अन्तःकरणस्य) अन्तःकरण अर्थात् बुद्धितत्व का अनुमान होता है।

अहङ्कार को देखकर ही बुद्धितत्त्व का अनुमान किया जाता है। विना बुद्धि के अहंकार का होना सम्भव नहीं है। जिस समय तक वस्तु का अस्तित्व निश्चय न हो, तब तक उसमें अभिमान नहीं होता।

"ततः प्रकृतेः"॥६५॥

(ततः) उस महत्तत्व से—बुद्धि कार्य से (प्रकृतेः) प्रकृति का ज्ञान होता है।

कार्य रूप बुद्धि का विना कारण उत्पन्न होना सम्भव नहीं। बुद्धि-सुख दुःख मोह रूपी है। उसी से ही प्रकृति के भी यह रूप अनुमित किये जा सकते हैं।

"संहतपरार्थत्वापुरुषस्य"॥६६॥

(संहतपरार्थत्वात्) आरम्भिक संयोग दूसरे के लिये होने से (पुरुषस्य) पुरुष का अनुमान होता है।

प्रकृति के अवयवों का संयोग सदा दूसरे के लिये है, अपने लिये नहीं। मन आदि का लाभ पुरुष को होता है। मन आदि अपने लिये कुछ भी नहीं कर सकते। जितने भी प्रकृति के विकार हैं, वे अपने लिये नही प्रत्युत दूसरे के लिये हैं। इसलिये स्पष्ट है कि प्रकृति दूसरे के लिये है और वह दूसरा कौन है ? वह प्रकृति के अतिरिक्त पुरुष है।

"मूले मूलाभावादमूलं मूलम्"॥६७॥

(मूले) मूल में (मूलाभावात्) मूल के अभाव से (अमूलम्) मूल रहित (मूलम्) मूल है।

पुरुष को छोड़कर प्रकृति सहित २४ तत्त्व हैं। उन सबका कारण मूल प्रकृति है। फिर उस प्रकृति का कोई कारण नहीं; क्योंकि वह मूल है। अर्थात् जड़ की जड़ नहीं होती। इसलिये मूल विना मूल के होता है।

"पारम्पर्येऽप्येकत्रपरिनिष्ठेति संज्ञामात्रम्"॥६८॥

(पारम्पर्येऽपि) परम्परा होने में भी (एकत्रपरिनिष्ठा) किसी एक में

परिनिष्ठा (समाप्ति) होगी (इति संज्ञामात्रम्) इससे प्रकृति शब्द संज्ञा मात्र है।

यदि Cosmological argument अर्थात् परम्परा को दृष्टि में रखकर कारण कार्यभाव का विचार किया जाय तो कहीं पर तो पर्यवसान करना होगा। जहां पर पर्य्यवसान होगा—वही नित्य प्रकृति है; उसी की प्रकृति संज्ञा है।

The first cause of this universe is called Prakriti which is without any cause=uncaused cause.

"समानः प्रकृतेर्द्वयोः"॥६९॥

(प्रकृतेः) प्रकृति को मूल कारण मानने से (द्वयोः) दोनों का (समानः) समान पक्ष है।

एक यह मत है कि इस संसार का मूलकारण अविद्या है। चाहे अविद्या कहा जाय और चाहे मूल-प्रकृति कहा जाय। दोनों मत इस बात में सहमत हैं कि उनका आगे कोई कारण नहीं; केवल शब्दों का हेर फेर है।

"अधिकारित्रैविध्यान्न नियमः"॥७०॥

(अधिकारित्रैविध्यात्) अधिकारी के तीन प्रकार होने से (न नियमः) नियम नहीं है।

प्रश्न यह है कि पुरुष और प्रकृति का ज्ञान सब को क्यों नहीं होता? कपिल मुनि उत्तर देते हैं कि अधिकारी तीन प्रकार के हैं उत्तम, मध्यम, और कनिष्ठ। केवल उत्तम अधिकारी ही

इस ज्ञान को उपलब्ध कर सकता है। उत्तम अधिकारी वह है, जिसका मन सर्वथा निर्मल और शुद्ध हो चुका है।

"महदाख्यमाद्यं कार्यं तन्मनः" ॥७१॥

(महदाख्यम्) महत्तत्व नाम वाला (आद्यं कार्यम्) जो आदि कार्य है (तत्) वह (मनः) मन अर्थात् बुद्धितत्व है।

कपिलाचार्य अब प्रकृति से निर्माण हुए पदार्थों का वर्णन करते हैं।

प्रकृति का पहला कार्य बुद्धितत्त्व है, उसी का नाम ही महत्तत्त्व है।

"चरमोऽहङ्कारः" ॥७२॥

(चरमः) उसके पश्चात् (अहंकारः) अहंकार है।

बुद्धितत्त्व के पश्चात् अभिमान का उदय होता है, उसे ही अहङ्कार कहते हैं।

"तत्कार्यत्वमुत्तरेषाम्" ॥७३॥

(तत्कार्यत्वम्) उसका कार्य होना (उत्तरेषाम्) उत्तर वालों का।

अहंकार के पश्चात् होने वाली जो पञ्चतन्मात्राएं—(रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द) हैं, वे सब अहंकार के ही कार्य हैं। प्रकृति के कार्य तो महत्तत्त्व और अहंकार हैं, शेष आगे होने वाले कार्य अहंकारादि उत्पन्न हुए हैं, परन्तु सब का कारण प्रकृति नहीं है।

"आद्यहेतुता तद्द्वारा पारम्पर्येऽप्यणुवत्" ॥७४॥

(आद्यहेतुता) प्रकृति को कारण मानना (तद्द्वारा) उसके द्वारा (पारम्पर्येऽपि) परम्परा भाव में भी (अणुवत्) अणु की तरह ।

जिस प्रकार परम्परा सम्बन्ध से घटादि के कारण अणु माने थे, उसी तरह परम्परा सम्बन्ध से घटादिकों का कारण भी प्रकृति है ।

अब प्रश्न यह है कि जब पुरुष और प्रकृति दोनों नित्य हैं, तो केवल प्रकृति को जगत् का उपादान कारण क्यों मानना चाहिये । उसका उत्तर निम्न है—

"पूर्वभावित्वे द्वयोरेकतरस्य हानेऽन्यतरयोगः"॥७५॥

(पूर्वभावित्वे) पूर्व में होने में (द्वयोः) दोनों का (एकतरस्य) एक के (हाने) अभाव होने में (अन्यतरयोगः) दूसरे का योग है ।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि पुरुष और प्रकृति दोनों नित्य हैं । परन्तु यदि पुरुष को इस जगत् का उपादान कारण माना जाय तो जो पुरुष के गुण हैं, वे जगत् में भी होने चाहिये । पुरुष का गुण चेतनता है, तो जगत् भी चेतन हो । परन्तु जगत जड़ है । कारण और कार्य का परस्पर सम्बन्ध होना चाहिये । प्रकृति ही जगत् का उपादान कारण है; क्योंकि प्रकृति भी जड़ है और जगत् भी जड़ है ।

"परिच्छिन्नं न सर्वोपादानम्"॥७६॥

(परिच्छिन्नम्) परिमित (न) नहीं है (सर्वोपादानम्) जो सब का उपादान कारण है ।

प्रकृति सब जगत का उपादान कारण है । इसलिये वह

परिमित नहीं प्रत्युत व्यापक है। क्योंकि परिमित पदार्थ जगत् का कारण नहीं हो सकता।

"तदुत्पत्तिश्रुतेश्च"॥७७॥

(च) और (तदुत्पत्तिश्रुतेः) उस प्रकृति से जगत् उत्पन्न हुआ है, श्रुति के प्रमाण होने से।

प्रकृति ही जगत् का उपादान कारण है; इसमें श्रुति भी प्रमाण है, यथा:—

"प्रधानाज्जगज्जायते"

प्रकृति से ही जगत् बना है।

"नावस्तुनो वस्तुसिद्धिः"॥७८॥

(न) नहीं है (अवस्तुनः) अवस्तु से (वस्तुसिद्धिः) वस्तु की सिद्धि।

यदि यह कहा जाय कि प्रकृति जगत् का कारण नहीं है; अभाव से ही यह सृष्टि हो गई है; विना कारण ही इस सृष्टि का निर्माण हुआ है। तो उसके उत्तर में कपिल मुनि कहते हैं कि यह हो ही नहीं सकता; अवस्तु से वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती। जैसे आकाश के फूलों से हार नहीं बन सकता; इसी प्रकार अभाव से सृष्टि का होना सम्भव नहीं।

"अबाधाददुष्टकारणजन्यत्वाच्च नावस्तुत्वम्"॥७९॥

(अबाधात्) बाधा न होने से (अदुष्टकारणजन्यत्वात्) दुष्टकारण से उत्पन्न न होने से (न) नहीं होता (अवस्तुत्वम्) अवस्तु का सिद्ध होना।

यदि यह कहा जाय कि यह जगत् ही मिथ्या है, उसकी

सत्ता नहीं है। इस पर कपिल मुनि कहते हैं कि यह अशुद्ध है; क्योंकि यह जगत् प्रत्यक्ष है। यदि यह स्वप्नवत् होता तो स्वप्न की तरह जागृतावस्था में इसकी सत्ता दिखलाई नहीं देती और न ही जगत किसी पीलियापन आदि रोग की अवस्था में प्रतीत होता है। यह जगत् तो प्रत्यक्ष रूप में सब सामान्य जनों को एक जैसा दिखलाई दे रहा है; इसलिये यह मिथ्या या अवस्तु नहीं हो सकता।

"भावे तद्योगेन तत्सिद्धिरभावे तदभावात्कुतस्तरां-तत्सिद्धिः"॥८०॥

(भावे) कारण के होने में (तद्योगेन) उसके योग से (तत्सिद्धिः) उस कार्य की सिद्धि है (अभावे) कारण के न होने में (तद्भावात्) उस के अभाव से (कुतस्तराम्) कहां से (तत्सिद्धिः) उसकी सिद्धि होगी।

कारण के होते हुए ही कार्य की सिद्धि मानी जा सकती है। यदि कारण का ही अभाव है, तो कार्य की सिद्धि किस प्रकार हो सकती है।

"न कर्मण उपादानत्वायोगात्"॥८१॥

(न कर्मणः) कर्म से नहीं (उपादानत्वायोगात्) उपादान के योग न होने से ।

यदि यह कहा जाय कि प्रकृति को जगत् का उपादान कारण न मान कर कर्म ही सृष्टि की उत्पत्ति का कारण है। तो कपिलाचार्य कहते हैं कि यह अशुद्ध है; क्योंकि कर्म तो निमित्त कारण

हो सकता है। उपादान कारण तो कोई द्रव्य होना चाहिये। द्रव्य से द्रव्य की उत्पत्ति हो सकती है; कर्म से द्रव्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसलिये कर्म से सृष्टि की उत्पत्ति मानना अप्रामाणिक है। प्रकृति और पुरुष का विवेक ही मुक्ति है। इसलिये प्रकृति की सत्ता मानना आवश्यक है।

"नानुश्रविकादपि तत्सिद्धिस्साध्यत्वेनाऽऽवृत्तियोगादपुरुषार्थत्वम्" ॥८२॥

(नानुश्रविकादपि) वैदिक कर्म से भी नहीं मिलती (तत्सिद्धिः) मुक्ति की सिद्धि (साध्यत्वेन) साध्य कर्म होने पर भी (आवृत्तियोगात्) आवृति के योग से (अपुरुषार्थत्वम्) पुरुषार्थ होना नहीं है।

मुक्ति कैसे प्राप्त हो, अब इस पर विचार किया जाता है। कपिलाचार्य कहते हैं—मुक्ति का साधन कर्म नहीं प्रत्युत विवेक है। इसलिये उपरोक्त सूत्र में कपिल मुनि कहते हैं कि लौकिक अथवा वैदिक कर्मों से भी मुक्ति नहीं प्राप्त हो सकती। क्योंकि कर्म का बन्धन होने से उनका फल भी बन्धनयुक्त ही होगा। कर्म का फल क्षणिक है। इसलिये उससे प्राप्त हुई मुक्ति भी क्षणिक होगी, इस कारण यह पुरुषार्थ भी नहीं कहला सकता। विवेक के बिना बन्धन नहीं टूट सकते।

"तत्र प्राप्तविवेकस्याऽनावृत्तिश्रुतिः" ॥८३॥

(तत्र) उसमें (प्राप्तविवेकस्य) विवेकज्ञान प्राप्त होने वाले के लिये (अनावृत्ति) संसार में वापिस न लौटने की (श्रुति) श्रुति है।

जिसको पुरुष और प्रकृति का साक्षात् विवेक हो गया है, उसीको मोक्ष है। श्रुति में उसी के लिये ही लिखा है:—

"न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते"

अर्थात् लौट कर वापिस नहीं आता और लौट कर वापिस नहीं आता, वह विवेकी ही मुक्त है।

"दुःखाद्दुःखं जलाभिषेकवन्न जाड्यविमोकः" ॥८४॥

(दुखा:त्) दुःख से (दुखम्) दुःख होता है (जलाभिषेकवत्) जल छिड़कने की तरह (न) नहीं होता (जाड्यविमोकः) जाड़े का छूटना।

सांसारिक कर्म या वैदिक कर्म यज्ञ यागादि कर्मों का फल क्षणिक है। इसलिये उसका फल मिल जाने के पश्चात् दुःख पूर्ववत् ही बना रहेगा। इसलिये विवेकी पुरुष के लिये यह सब कुछ दुःख रूप है। दुःख से दुःख ही होता है। जिस प्रकार किसी आदमी को सरदी लग रही हो और फिर उस पर पानी छिड़क दिया जावे, तो उसे अधिक दुःख ही होगा। उसका दुःख बढ़ेगा, घटेगा नहीं।

"काम्येऽकाम्येऽपि साध्यत्वात् विशेषात्" ॥८५॥

(काम्ये) सकाम कर्म करने में (अकाम्ये) निष्काम कर्म करने में (अपि) भी (साध्यत्वाविशेषात्) साधन योग्य कर्म विशेष न होने से।

चाहे कर्म सकाम हो या निष्काम हो। जब तक वे विवेक-युक्त नहीं होते, तब तक मुक्ति नहीं हो सकती। केवल कर्मों के करने से मोक्ष नहीं हो सकता। प्रत्युत ज्ञान युक्त या विवेक युक्त

कर्म करने से ही मोक्ष मिल सकता है। इसमें श्रुति भी प्रमाण है:—

"न कर्मणा न प्रजया"

न कर्मों से, न प्रजा से और न धन से मोक्ष मिल सकता है।

"निज मुक्तस्य बन्धध्वंसमात्रं परं न समानत्वम्" ॥८६॥

(निजमुक्तस्य) जो स्वभाव से मुक्त है, उनका (बन्धध्वंसमात्र) अविवेक का नाश करना मात्र है (परं न समानत्वम्) परन्तु कर्मों से जो फल मिलता है और जो ज्ञान से फल मिलता है, वह समान नहीं है।

कर्म का फल क्षणिक होने से कपिल मुनि के आदेशानुसार वह मुक्ति दिलाने वाला नहीं है; क्योंकि वह अनित्य है। परन्तु ज्ञान या विवेक का फल तो अविद्या का विनाश रूप है, तो उस का नाश कभी नहीं होगा। दूसरा कर्म देह से होता है, परन्तु देह विनाशी है। इसलिये कर्म का फल भी विनाशी है। विनाशी फल मुक्ति नहीं दे सकता। अतः विवेक ही मुक्ति का साधन है।

"द्वयोरेकतरस्य वाप्यसन्निकृष्टार्थ परिच्छित्तिः प्रमा तत्साधकतमं यत्तत् त्रिविधं प्रमाणम्" ॥८७॥

(द्वयोरेकतरस्य) दोनों में एक का (अपि) भी (असन्निकृष्टार्थ परिच्छित्तिः) जिस का अर्थ सम्यक्तया नहीं जाना गया उसका निश्चय करना (प्रमा) प्रमा है (तत्साधकतमम्) उस प्रमा को सबसे अधिक सिद्ध करने वाला (यत्तत्) जो है वह (त्रिविधं प्रमाणम्) तीन प्रकार का प्रमाण है।

कपिल मुनि कहते हैं कि वह मुक्ति जिसका पूर्व सूत्रों में वर्णन किया गया है, उस तक पहुँचने का तरीका प्रमाण द्वारा है। वह प्रमाण तीन प्रकार का है—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द।

जो पदार्थ भौतिक और समीप है, उसका ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से होता है। जो पदार्थ दूर है और अभौतिक है, उसका ज्ञान अनुमान तथा शब्द प्रमाण से होता है। जो केवल परोक्ष में है, उसका ज्ञान केवल शब्द प्रमाण से होता है।

प्रत्यक्ष—Direct perception.

अनुमान—Inference.

शब्द—Verbal Testimony.

आप्त पुरुषों के वाक्य भी शब्द प्रमाण के अन्तर्गत हैं। इन तीन प्रमाणों द्वारा ही यथार्थ बोध होता है।

प्रश्न—क्या इन तीन प्रमाणों के अतिरिक्त और प्रमाण नहीं है?

"तत्सिद्धौ सर्वसिद्धेर्नाधिक्यसिद्धिः" ॥८८॥

(तत्सिद्धौ) उनकी सिद्धि होने से (सर्वसिद्धेः) सब की सिद्धि होने से (नाधिक्यसिद्धिः) अधिक की सिद्धि नहीं है।

उत्तरः—इन प्रमाणों से ही सब की सिद्धि हो जाती है। इस लिये अधिक प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं।

प्रत्यक्ष किसे कहते हैं?

"यत्सम्बन्धं सत्तदाकारोल्लेखिविज्ञानं तत्प्रत्यक्षम्" ॥८९॥

(यत्सम्बन्धंसत्) इन्द्रियों का पदार्थों के साथ सम्बन्ध हो जाने पर (तदाकारोल्लेखिविज्ञानम्) जो ज्ञान, उन पदार्थों के साथ तदाकार हो

गया है (तत्प्रत्यक्षम्) उसे प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं।

प्रत्यक्ष ज्ञान वह है; जिस में पदार्थों का सम्बन्ध ज्ञानेन्द्रियों के साथ ऐसा होगया है कि उस में कोई भ्रम नहीं रहा और विकार नहीं रहा।

यह लक्षण सर्व साधारण के लिये है। योगियों के लिये परोक्ष का ज्ञान भी प्रत्यक्ष सा प्रतीत होता है। चाहे उस ज्ञान का सम्बन्ध किसी इन्द्रिय के साथ हुआ हो अथवा न हुआ हो। इस लिये अगले सूत्र में इसे अधिक स्पष्ट करते हैं।

"योगिनामबाह्यप्रत्यक्षत्वान्न दोषः"॥९०॥

(योगिनाम्) योगियों के (अबाह्यप्रत्यक्षत्वात्) अबाह्य प्रत्यक्ष होने से (न) नहीं है (दोषः) दोष।

योगियों को अपने अन्दर का भी प्रत्यक्ष होता है और परोक्ष का भी। इसलिये उपरोक्त लक्षण को जो प्रत्यक्ष का किया गया है; वह बाह्य प्रत्यक्ष का है, अबाह्य प्रत्यक्ष का नहीं। सारांश यह है कि प्रत्यक्ष का सर्व सामान्य लक्षण किया गया है।

"लीनवस्तुलब्धातिशयसम्बन्धाद्वादोषः"॥९१॥

(लीनवस्तुषु) लीन वस्तुओं में (लब्धातिशयसम्बन्धात्) योगियों के निकटतम सम्बन्ध होजाने के कारण (अदोषः) दोष नहीं है।

योगी लोग ऐसी वस्तु को जो दूर हो या दूसरे के चित्त में कोई बात हो, उसका भी योग द्वारा प्रत्यक्ष करते हैं। इस लिये प्रत्यक्ष शब्द से केवल इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्न ज्ञान

(इन्द्रियों के सम्बन्ध से पैदा हुआ २ ज्ञान) का ही अर्थ न लिया जावे प्रत्युत वह ज्ञान भी प्रत्यक्षवत् है, जो प्रतिबोध (Intuition) द्वारा योगियों को होता है।

"ईश्वरासिद्धेः ॥९२॥"

(ईश्वराऽसिद्धेः) ईश्वर की सिद्धि न होने से।

यदि इन्द्रिय ग्राह्य पदार्थ को ही केवल प्रत्यक्ष समझा जावेगा, तो योगी लोग प्रतिबोध द्वारा जो ईश्वर का प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं। ऐसा करना असिद्ध हो जायगा। इस लिये अतीन्द्रिय पदार्थ भी योग द्वारा प्रत्यक्ष होसकते हैं।

"मुक्तबद्धयोरन्यतराभावान्न तत्सिद्धिः"॥९३॥

(मुक्तबद्धयोः) ईश्वर के मुक्त होने या बद्ध होने से (अन्यतराभावात्) किसी एक के भी सम्भव न होने से (न तत्सिद्धिः) उस ईश्वर की सिद्धि नहीं होसकती।

कई महानुभाव यह समझते हैं कि ईश्वर की सिद्धि अनुमान प्रमाण से की जा सकती है। हम इस जगत रूपी कार्य को देखते हैं। इस से अनुमान लगाते हैं कि इसका कोई कारण होगा और वह कारण ईश्वर है। जैसे बादलों को देखकर हम वर्षा का अनुमान करते हैं। परन्तु प्रतिवादी इस बात को भूल जाता है कि अनुमान उसी चीज़ का होता है जिसका कभी पूर्व काल में प्रत्यक्ष होचुका हो। ईश्वर का प्रत्यक्ष इन इन्द्रियों द्वारा तो किसी को हुआ ही नहीं; इस लिये अनुमान

द्वारा उसकी स्थिति को स्वीकार करना असम्भव है, उसकी स्थिति का अनुभव मानसिक प्रत्यक्ष द्वारा होता है।

यदि यह समझा जाय कि ईश्वर बद्ध है तो बंधा हुआ स्वतन्त्र रूप से सृष्टि को उत्पन्न नहीं करसकता और यदि यह समझा जाय कि वह मुक्त है तो मुक्तात्मा में कोई इच्छा नहीं होती। सृष्टि विना इच्छा के उत्पन्न नहीं होसकती। इसलिये तर्क से ईश्वर की सिद्धि नहीं होसकती। ईश्वर की सिद्धि केवल प्रतिबोध द्वारा हो सकती है।

"उभयथाप्यसत्करत्वम्"॥६४॥

(उभयथाऽपि) दोनों प्रकार से भी (असत्करत्वम्) ईश्वर का कर्तृत्व सिद्ध नहीं होता।

अनुमान प्रमाण या तर्क से हम ईश्वर का कर्तृत्व (ईश्वर सृष्टि बनाता है) सिद्ध नहीं कर सकते। उसकी सिद्धि ऋतम्भराप्रज्ञा द्वारा होसकती है।

"मुक्तात्मनः प्रशंसा उपासा सिद्धस्यवा"॥६५॥

(मुक्तात्मनः) मुक्तात्मा की (प्रशंसा) तारीफ़ (वा) अथवा (सिद्धस्य उपासा) सिद्ध की उपासना ईश्वर का साधक है।

ईश्वर की सिद्धि का प्रत्यक्ष सबूत यह है कि हम मुक्तात्मा की प्रशंसा करते हैं। और जो योगी ईश्वर का दर्शन करने में समर्थ होते हैं; उन को उस दर्शन से पूर्व कई प्रकार की सिद्धियां प्राप्त होती हैं।

"तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्"॥९६॥

(तत्सन्निधानात्) उसकी समीपता से (मणिवत्) मणि की तरह (अधिष्ठातृत्वम्) मल्कीयत है।

प्रकृति जड़ है, इस लिये क्रिया रहित है। उस में जो क्रिया दिखलाई देती है, वह ईश्वर की समीपता के कारण है। ईश्वर के प्रकाश से वह प्रकाशित हो रही है और उस की सत्ता से क्रिया करती हुई दिखलाई देती है। जैसे मणि को कांच की समीपता से सुरखी प्राप्त होती है। इसीलिये ही ईश्वर का अधिष्ठातृत्व समझा जाता है।

"विशेषकार्येष्वपि जीवानाम्"॥९७॥

(विशेषकार्येष्वपि) विशेष कार्यों में भी (जीवानाम्) जीवों के सन्निधान से ईश्वर का अधिष्ठातृत्व है।

ईश्वर का अधिष्ठातृत्व इससे भी स्पष्ट है कि अन्तः-करण में जो विशेष क्रियायें हो रही हैं-वे भी उस के सन्निधान से हो रही हैं। न केवल प्रकृति की क्रियाओं से उस का अधिष्ठा-तृत्व सिद्ध होता है, प्रत्युत अन्तःकरण की विशेष क्रियाएं भी उस ईश्वर के अधिष्ठातृत्व को सिद्ध कर रही हैं।

"सिद्धरुपबोद्धृत्वाद्वाक्यार्थोपदेशः"॥९८॥

(सिद्धरूपबोद्धृत्वात्) उस परमात्मा का यथार्थ रूप बोध करने के कारण (वाक्यार्थोपदेशः) वेद वाक्यों का उपदेश आवश्यक है।

अनुमान प्रमाण आदि से तो केवल उस परमात्मा के होने का कुछ ज्ञान सम्भव है। परन्तु उस का यथार्थ रूप जानना

हो तो वेद वाक्य, आप्तोपदेश और प्रति बोध की शक्ति को जागृत करना आवश्यक है।

"अन्तःकरणस्य तदुज्ज्वलितत्वाल्लोहवदधिष्ठातृत्वम्" ॥९९॥

(अन्तःकरणस्य) अन्तःकरण की (तत्=तस्मात्) उस से (उज्ज्वलितत्वात्) प्रकाशित होने से (लोहवत्) लोहे की तरह (अधिष्ठातृत्वम्) अधिष्ठातृत्व है।

अन्तःकरण भी उस ईश्वर के प्रकाश से प्रकाशित होरहा है। इस लिये अन्तः करण का भी वह अधिष्ठाता है। जैसे अग्नि से तपाए हुए लोहे में यद्यपि दाहशक्ति अग्नि के संयोग के कारण है तथापि अन्य पदार्थों के दाह करने को वह लोह-शक्ति भी हेतु होसकती है।

"प्रतिबन्धदृशः प्रतिबद्धज्ञानमनुमानम्" ॥१००॥

(प्रतिबन्धदृशः) व्याप्ति के देखने से (प्रतिबद्धज्ञानम्) व्यापक का ज्ञान (अनुमानम्) अनुमान कहलाता है।

धूम्र को देख कर अग्नि का ज्ञान करना अनुमान प्रमाण कहलाता है। जहां जहां धूवां होगा वहां वहां आग का होना सम्भव है। इसे अनुमान कहते हैं।

"आप्तोपदेशः शब्दः" ॥१०१॥

आप्त—जिन्हें यथार्थ बोध है, जो सत्यवक्ता हैं, उन्हें आप्त कहते हैं (आप्तोपदेशः) उन आप्त पुरुषों का उपदेश या वचन (शब्दः) शब्द प्रमाण कहाता है।

उपरोक्त आप्त पुरुषों का कथन शब्द प्रमाण कहलाता है।

"उभयसिद्धिः प्रमाणात् तदुपदेशः"॥१०२॥

(उभयसिद्धिः) दोनों की सिद्धि होती है। (प्रमाणात्) प्रमाण से (तदुपदेशः) उसका उपदेश है।

आत्म और अनात्म वस्तुओं की सिद्धि में प्रमाण बहुत सहायक हैं। इसलिये प्रमाणों का उपदेश दिया गया है।

"सामान्यतो दृष्टादुभयसिद्धिः"॥१०३॥

(सामान्यतोदृष्टात्) सामान्यतोदृष्ट अनुमान द्वारा (Inference from the particular to the general) (उभयसिद्धिः) आत्म तथा अनात्म दोनों वस्तुओं की सिद्धि होती है।

अनुमान प्रमाण के तीन भाग हैं:—पूर्ववत् शेषवत तथा सामान्यतोदृष्ट। धूम्र को देख कर अग्नि का ज्ञान होना पूर्ववत् अनुमान कहलाता है। कारण से कार्य के अनुमान को शेषवत् अनुमान कहते हैं। व्यक्तियों से जाति का अनुमान करना सामान्यतोदृष्ट अनुमान है। यथा कई व्यक्तियों को मरते हुए देख कर मनुष्य जाति का मरण धर्म स्थापित करना। इस सामान्यतोदृष्ट अनुमान द्वारा आत्म तथा अनात्म वस्तुओं की सिद्धि होती है।

'चिदवसानो भोगः"॥१०४॥

(चिदवसानः) चैतन्य में जिसकी समाप्ति है, वह (भोगः) भोग है।

मुनि का आशय यह है कि यद्यपि भोग बुद्धि का धर्म है परन्तु बुद्धि जड़ है; इसलिये भोग का अवसान चैतन्य शक्ति

में ही होसकता है और वह चैतन्य शक्ति आत्मा है। इसलिये आत्मा ही भोक्ता है। परन्तु आत्मा को अकर्ता माना गया है; इस लिये उसे भोक्ता कहना अशुद्ध है। इसका उत्तर कपिल मुनि अगले सूत्र में देते है।

"अकर्त्तुरपि फलोपभोगोऽन्नाद्यवत्"॥१०५॥

(अकर्त्तुः)अकर्त्ता को (अपि)भी (फलोपभोगः) फलका भोग होता है (अन्नादिवत)अन्नादि की तरह।

अकर्त्ता भी भोक्ता हो सकता है, जिस प्रकार भोजन तो रसोइया बनाता है तथा तैय्यार करता है और खाता उसका मालिक है। जैसे तलवार से काटने का कर्त्ता मनुष्य कहलाता है। ऐसे ही इन्द्रियों के कर्मों का फल जीव को होता है।

प्रश्नः—चैतन्य जीवात्मा को दुःखादि विकार कैसे हो सकते हैं?

उत्तरः—

"अविवेकाद्वा तत्सिद्धेः कर्त्तुः फलावगमः"॥१०६॥

(अविवेकात्) अविवेक से–अज्ञान से (तत्सिद्धिः) उसकी सिद्धि होती है (कर्त्तुः) कर्त्ता को (फलावगमः) फल होना मानना।

जीवात्मा को जो सुख-दुःख अनुभव होते हैं, वह अज्ञान करके हैं। जब उसका अज्ञान दूर हो जायगा, तब उसे अनुभव होगा कि ये सब धर्म इन्द्रियों के हैं, मेरे नहीं।

"नोभयं च तत्त्वाख्याने"॥१०७॥

(तत्वाख्याने) विवेक ज्ञान के प्राप्त होने पर (न) नहीं रहता (उभयम्) दोनों अर्थात् सुख और दुःख।

जब आत्मा को विवेक ज्ञान होता है, तब उसे न दुःख होता है और न ही सुख।

"विषयोऽविषयोऽप्यतिदूरादेर्हानोपादानाभ्यामिन्द्रियस्य"॥१०८॥

(अतिदूरादेः) अतिदूरादि करणों के (हानोपादानाभ्याम्) त्याग और ग्रहण करने से—न होने और होने से (इन्द्रियस्य) इन्द्रियों का (विषयोऽविषयः) पदार्थ कभी ग्राह्य होता है और कभी ग्राह्य नहीं होता।

अब प्रश्न यह है कि प्रकृति और पुरुष का प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध करना असम्भव है। इसलिये उन्हें न माना जाय तो क्या हर्ज है? ऋषि उत्तर देते हैं कि क्या वह चीज जो आपसे बहुत दूर है और आपको उसका प्रत्यक्ष नहीं हो रहा तो उसका अस्तित्व भी नष्ट हो गया है। जिस प्रकार उसके अस्तित्व का अभाव नहीं है; इसी प्रकार यद्यपि ये पुरुष और प्रकृति हमें दिखलाई नहीं देते, परन्तु उनका अस्तित्व है।

"सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिः"॥१०९॥

(सौक्ष्म्यात्) पुरुष और प्रकृति के अतिसूक्ष्म होने से (तदनुपलब्धिः) उसकी उपलब्धि नहीं हो सकती।

प्रकृति और पुरुष अत्यन्त सूक्ष्म हैं, अतः उनका प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा सम्यक् ज्ञान नहीं हो सकता।

"कार्यदर्शनात्तदुपलब्धेः"॥११०॥

(कार्यदर्शनात्) कार्य्य के देखने से (तदुपलब्धेः) उस प्रकृति की उपलब्धि से।

संसार में प्रकृति के कार्यों को देखने से प्रकृति का होना सिद्ध होता है। क्योंकि कार्य को देखकर ही कारण का ज्ञान होता है।

"वादिविप्रतिपत्तेस्तदसिद्धिरितिचेत्"॥१११॥

(वादिविप्रतिपत्तेः) शंका उठाने वाले के तर्क उठाने से (तदसिद्धिः) उसकी असिद्धि हो (चेत्) यदि।

यदि शंका करने वाले यह शंका करें कि जगद्रूपी कार्य जो हमें दिखलाई दे रहा है, उसका कारण ब्रह्म है, प्रकृति नहीं। उस समय उन्हें क्या उत्तर दिया जावे ?

"तथाऽप्येकतरदृष्ट्यैकतरसिद्धेर्नापलापः"॥११२॥

(तथापि) तब भी (एकतरदृष्ट्या) एक दृष्टि से (एकतरसिद्धेः) एक की सिद्धि से (न) नहीं है (अपलापः) अनुचित कथन।

चाहे कार्य का कारण प्रतिवादी कुछ ही माने ब्रह्म माने या प्रकृति माने। परन्तु यह सिद्ध है कि कार्य असत् नहीं है। सामान्य दृष्टि से यदि देखा जाय, तो यह स्पष्ट है कि जैसा कारण होगा तदनुसार ही कार्य होगा। कार्य को देखकर कारण का अनुमान और कारण को देखकर कार्य का अनुमान होता है। इस संसार रूपी कार्य को देखकर प्रकृति का अनुमान होता है; क्योंकि सब

कार्य प्रकृति में ही लय होते हैं ।

"त्रिविधविरोधापत्तेश्च" ॥११३॥

(च) और (त्रिविधविरोधापत्तेः) तीन प्रकार के विरोध के प्राप्त होने पर ।

कार्य तीन प्रकार के होते हैं—अतीत—जो कार्य गुजर चुका है,—वर्तमान—जो कार्य इस समय हो रहा है और—अनागत —जो कार्य अभी होने वाला है ।

यदि कार्य को असत् मान लिया जाय, तो यह तीन प्रकार का व्यवहार भी नहीं हो सकेगा । इसलिये स्पष्ट है कि कार्य असत् नहीं है ।

"नासदुत्पादो नृशृङ्गवत्" ॥ ११४ ॥

(नृशृङ्गवत्) मनुष्य के सींगों की तरह (न) नहीं है (असदुत्पादः) असत् की उत्पत्ति ।

जिस प्रकार मनुष्य के सींग नहीं होते; इसी प्रकार असत् की भी उत्पत्ति नहीं हो सकती ।

"उपादाननियमात्" ॥११५॥

(उपादाननियमात्) उपादान का नियम होने से ।

प्रत्येक वस्तुका उपादान नियत है । मिट्टी से घड़ा बनता है । मिट्टी से कपड़ा नहीं बन सकता । सूत से कपड़ा बनता है । घी से कपड़ा नहीं बन सकता । इसलिये प्रत्येक वस्तु का उपादान कारण नियत है । इसी प्रकार इस संसार रूपी कार्य का भी

कारण (प्रकृति) नियत है। नियमित कार्य कारण भाव से सत् होने से कार्य को भी सत् मानना पड़ेगा।

"सर्वत्रसर्वदा सर्वासम्भवात्" ॥११६॥

(सर्वत्र) सब जगह (सर्वदा) हमेशा (सर्वाऽसम्भव त्) सब असम्भव होने से।

यह सर्वथा असम्भव है कि बिना कारण के कार्य हो जाय। सब जगह और हमेशा यही देखा गया है कि उपादान कारण नियत है। इसलिये असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

"शक्तस्य शक्य करणात्"॥११७॥

(शक्तस्य)शक्त का (शक्त–जिसमें शक्ति हो वह शक्त कहलाता है) (शक्य-करणात्) शक्य के करने से (जो होने योग्य हो वह शक्य है)।

जो कारण जिस कार्य को उत्पन्न करने में समर्थ है, वह ही उस कार्य को उत्पन्न करता है। इससे स्पष्ट है कि सत् से असत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती और न ही असत् से सत् की उत्पत्ति हो सकती है।

"कारणभावाच्च" ॥११८॥

(कारणभावाच्च) और कारण में भाव होने से।

कारण में पहले ही से गुप्तरूप से कार्य विद्यमान है। मिट्टी में घड़ा पहिले ही विद्यमान है। इसलिये यदि कारण सत् है तो उससे असत् की उत्पत्ति कैसे हो सकेगी?

"न भावे भावयोगश्चेत्" ॥११९॥

(भावे) कारण में (भावयोग:) कार्य का भाव (चेत्) यदि है (न) तो ऐसा नहीं

यदि कारण में कार्य का भाव छिपा हुआ है, तो यह व्याकरण कहांतक ठीक है कि - यह घट होगा, होचुका और वर्तमान अवस्था में है। अतः कार्य का त्रिविध भेद सिद्ध नहीं हो सकता।

दूसरा यह कहना कि—कारण से कार्य उत्पन होता है। यह उत्पत्ति का शब्द प्रयुक्त नहीं होना चाहिये, यदि कारण में ही कार्य का भाव छिपा हुआ है तो।

"नाभिव्यक्तिनिबन्धनौव्यवहाराव्यहारौ" ॥१२०॥

(न) ऐसा नहीं है (व्यवहाराव्यवहारौ, व्यवहार और अव्यवहार (अभिव्यक्तनिबन्धनौ) अभिव्यक्ति निमित्तक हैं।

किसी कार्य का प्रगट होना ही उत्पत्ति कहाता है और न प्रगट होना उत्पत्ति के अभाव का द्योतक है इसलिये कार्य की उत्पत्ति का व्यवहार और अव्यवहार अभिव्यक्ति निमित्तक है।

"नाशः कारणलयः" ॥१२१॥

(कारणलय:) कारण में लय होना (नाश:) नाश कहलाता है।

प्रतिवादी कहता है, कि जो वस्तु उत्पन्न हुई है, वह अवश्य नष्ट होगी। कपिल मुनि उत्तर देते हैं कि कोई वस्तु नष्ट नहीं होती है—नाश का अर्थ कारण में लय हो जाना है—कार्य का तिरोभाव हो जाता है; वह सर्वथा नष्ट नहीं होजाता।

"पारम्पर्यतोऽन्वेषणा वीजांकुरवत्" ॥१२२॥

(पारम्पर्यतोऽन्वेषणा) परम्परा से अन्वेषण करना है (वीजांकुरवत्) बीज और अंकुर की तरह।

जब बीज और वृक्ष की परम्परा पर विचार किया जाता है, कि इसमें से पहले कौन था; हम किसी निश्चय पर नहीं पहुँच सकते। इसी प्रकार प्रकृति और उसके अभिव्यक्त कार्यों की परम्परा है। इसलिये कार्यों का नाश मानना ठीक नहीं है। प्रत्युत उनका कारण में लय होना ही नाश है।

"उत्पत्तिवद्वादोषः" ॥१२३॥

(उत्पत्तिवत्) उत्पत्ति की तरह (अदोषः) दोष रहित है (वा) अथवा।

जो वस्तु अभिव्यक्त है, उसका कोई कारण अवश्य होगा; पुनः उसका भी कोई कारण होगा; फिर उसका भी कोई कारण होगा। इस प्रकार करना अनवस्था दोष का द्योतक है। केवल जो अभिव्यक्त हमें दिखाई देता है, उसका कारण मालूम करना ही पर्याप्त है—कार्य से कारण का अनुमान कर लेना ही पर्याप्त है।

अब कार्य का लक्षण करते हैं—

"हेतुमदनित्यमव्यापिसक्रियमनेकाश्रितं लिङ्गम्" ॥१२४॥

(लिङ्गम्) उसको कार्य कहते हैं। (हेतुमत्) जो कारण वाला है (अनित्यम्) हमेशा नहीं रहता (अव्यापि) व्यापक नहीं है (सक्रियम्) क्रिया वाला है (अनेकम्) अनेक है (आश्रितम्) आश्रित है।

जो कारण वाला है, अनित्य है, व्यापक नहीं है, क्रिया-

संयुक्त है, अनेक है, आश्रित है, उसे कार्य कहते हैं।

"आञ्जस्यादभेदतो वा गुणसामान्यादेस्तत्सिद्धिः प्रधानव्यपदेशाद्वा"॥१२५॥

(आञ्जस्यात्) प्रत्यक्ष से (अभेदतः) भेद न होने से (गुणसामान्यादेः) गुण सामान्यादि से (तत्सिद्धिः) उसकी सिद्धि है (प्रधानव्यपदेशाद्वा) अथवा प्रधान के वर्णन करने से।

कार्य का ज्ञान मनुष्य को कैसे हो? ऋषि उत्तर देते हैं, कि पहले तो कार्य प्रत्यक्ष ही है। यदि वह प्रत्यक्ष प्रतीत न हो, तो कारण के सामान्य गुण देखने से कार्य का ज्ञान हो जाता है। यदि इससे भी कार्य का ज्ञान न हो तो प्रधान के व्यपदेश से कारण और कार्य का ज्ञान स्पष्ट हो जाता है। प्रधान के व्यपदेश का अर्थ यह है कि कारण और कार्य के भेद का ज्ञान श्रुति द्वारा स्पष्टीकरण किया जाय। यह कार्य है, और यह कारण है, ऐसा श्रुति में स्पष्ट वर्णन है।

"त्रिगुणाऽचेतनत्वादि द्वयोः"॥१२६॥

(त्रिगुणाऽचेतनत्वात्) तीन गुणों वाला और अचेतन होने से (द्वयोः) दोनों का।

पूर्व कारण और कार्य का भेद बतलाया है। अब इस सूत्र में कारण और कार्य का साधर्म्य बतलाया गया है।

कारण और कार्य का साधर्म्य यह है—

दोनों तीन गुणों वाले हैं अर्थात् सत्व, रज तथा तमादि से

आवृत हैं और दोनों जड़ हैं।

"प्रीत्यप्रीतिविषादाद्यैर्गुणानामन्योऽन्यं वैधर्म्यम्"॥१२७॥

(प्रीत्यप्रीतिविषादाद्यैः) सुख-दुःख मोहादि गुणों से (गुणानाम्) गुणों का (अन्योऽन्यम्) परस्पर (वैधर्म्यम्) वैधर्म्य है।

सत्व, रज और तम ये तीन गुण हैं। इनकी विशेषता अपनी २ है। सत्व गुण से सुख का अनुभव होता है; रजोगुण से दुःखादि का अनुभव होता है; और तमोगुण से मोह ममतादि का अनुभव स्पष्ट है। यही इन गुणों का परस्पर वैधर्म्य है।

"लघ्वादिधर्मैरन्योन्यं साधर्म्यं वैधर्म्यं गुणानाम्"॥१२८॥

(लघ्वादिधर्मैः) लघुत्व, चञ्चलता तथा गुरुत्वादि धर्मों के कारण (अन्योऽन्यम्) परस्पर (साधर्म्य वैधर्म्यम्) साधर्म्य और वैधर्म्य है (गुणानाम्) गुणों का।

सतो गुण वाली वस्तुओं में हलकापन एक समान गुण है। रजोगुण वाली वस्तु में चञ्चलता एक समान गुण है। तमोगुण वाली वस्तु में भारीपन एक समान गुण है। जिसमें उनकी समानता दिखाई देती है। वह उनका साधर्म्य है। जहां भिन्नता दिखाई देती है, उसे वैधर्म्य समझा जाये।

"उभयान्यत्वात् कार्यत्वं महदादेर्घटादिवत्"॥१३०॥

(उभयान्यत्वात) दोनों से भिन्न होने के कारण (महदादेः) महत्वादि का (कार्यत्वं) कार्य (घटादिवत्) घट आदि की तरह है।

महत्तत्वादि जो कार्य हैं, वे पुरुष और प्रकृति से भिन्न हैं। इसीलिये ही उन्हें कार्य कहा है और उनका कारण प्रकृति है। वह प्रकृति से पृथक् है; जैसे घड़ा मिट्टी से अलग है; यद्यपि वह मिट्टी का बना हुआ है। इसी प्रकार महत्तत्त्व अहंकार आदि प्रकृति से बने हुए हैं, परन्तु वे कार्य हैं।

"परिणामात्"॥१३०॥

(परिणामात्) परिणाम से।

परिमित अर्थात् परिछिन्न होने से महदादि कार्य होसकते हैं। क्योंकि परिछिन्न-पदार्थों का नाश होता है; परन्तु कारण का नाश नहीं होता।

"समन्वयात्"॥१३१॥

समन्वय से = सदृश गति होने से।

हम देखते हैं कि मन आदि भोजनादि से बढ़ते हैं, और भूखे रहने से कमजोर होते हैं। जो वस्तु घटती है तथा बढ़ती है वह कार्य होसकती है। इसलिये महदादि सब कार्य हैं। मूल-प्रकृति न घटती है और न बढ़ती है इसलिये वह कारण है।

"शक्तितश्चेति"॥१३२॥

शक्ति से भी।

महदादि एक प्रकार से पुरुष के करण हैं। करण होने से ही उनका कार्यत्व स्पष्ट है। यदि हमारे कान न हों तो हम कुछ सुन नहीं सकते। यदि आंखें न हों तो देख नहीं सकते। इस लिये स्पष्ट है कि ये इन्द्रियां हमारे लिये कार्य हैं।

"तद्भाने प्रकृतिः पुरुषो वा"॥१३३॥

(तद्भाने) उसके न होने में (प्रकृतिः पुरुषो वा) प्रकृति या पुरुष होगा।

यदि महदादि को कार्य न मानें, तो उन्हें फिर मूल प्रकृति मानना पड़ेगा या पुरुष मानना पड़ेगा। कुछ न कुछ तो उनको नाम देना पड़ेगा।

"तयोरन्यत्वे तुच्छत्वम्"॥१३४॥

(तयोः) उनसे (अन्यत्वे) अन्य होने में (तुच्छत्वम्) तुच्छ होना है।

यदि महदादि कार्यों को न तो प्रकृति का कार्य माना जावे और न ही उन्हें पुरुष का कार्य माना जावे; तब वे महदादि आकाश के फूल के समान तुच्छ वा असत् हैं।

"कार्यात्कारणानुमानं तत्साहित्यात्"॥१३५॥

(कार्यात्) कार्य से (कारणानाम्) कारणों का (अनुमानम्) अनुमान होता है (तत्साहित्यात्) उसके साहित्य से (कार्य के उसके अन्दर रहने से)।

कार्य से कारण के अनुमान का तात्पर्य यह है कि यदि कार्य प्रगट न भी हुआ हो तो उसे कारण के अन्दर गुप्त रूप से विद्यमान स्वीकार किया जावे; जैसे तेल का कारण तिल है; तिलों में तेल गुप्त रूप से विद्यमान है। इसी प्रकार महदादि कार्य मूल-प्रकृति में, जो इनका कारण है, गुप्त रूप से पूर्व ही विद्यमान हैं।

"अव्यक्तं त्रिगुणाल्लिंगात्" ॥ १३६ ॥

(अव्यक्तम्) प्रकृति सूक्ष्म है (त्रिगुणात् लिङ्गात्) त्रिगुण कार्य से।

महदादि जितने कार्य हैं; उनसे सुख-दुःखादि का भान होता है। उन की अपेक्षा प्रकृति बहुत सूक्ष्म है; क्यों कि प्रकृति से कोई गुण भासता नहीं।

"तत्कार्यतस्तत्सिद्धेर्नापलापः" ॥ १३७ ॥

(तत्कार्यतः) उस के कार्य से (तत्सिद्धेः) उसकी सिद्धि से (नापलापः) अपलाप नहीं है।

महदादि कार्यों को देख कर प्रकृति का अनुमान करना क्या अशुद्ध है ?

इस सूत्र तक प्रकृति का अनुमान समाप्त हुआ। अब आगे पुरुष का अनुमान कहेंगे।

"सामान्येन विवादाभावाद्धर्मवन्न साधनम्" ॥ १३८ ॥

(सामान्येन) सामान्य रूप से (विवादाभावात्) विवाद के न होने से (धर्मवत्) धर्म की तरह (न) नहीं (साधनम्) साधन।

जो चीज़ विवादास्पद है, उस के विषय में तो साधन ढूंढने की जरूरत है। जो चीज़ विवादास्पद ही नहीं है, उसके विषय में युक्ति ढूंढना व्यर्थ है। पुरुष के विषय में कोई विवाद ही नहीं इस लिये "पुरुष" का विषय कोई बहुत युक्तियां अथवा साधन नहीं चाहता। प्रकृति का विषय बहुत विवादास्पद था इस लिये उसे सिद्ध करने में युक्तियां अथवा साधनों की आवश्यकता अनुभव होती है।

प्रकृति का विचार समाप्त हो चुका। अब पुरुष का विचार करते हैं।

"शरीरादिव्यतिरिक्तः पुमान्" ॥ १३९ ॥

(शरीरादिव्यतिरिक्तः) शरीर आदि २४ तत्त्वों से पृथक् जो वस्तु है (पुमान्) वह पुरुष है।

शरीरादि पार्थिव तत्त्वों से भिन्न जो वस्तु है, उसे पुरुष समझो।

"संहतपरार्थत्वात्" ॥ १४० ॥

जो मिले हुवे अर्थात संहत पदार्थ होते हैं वे दूसरों के लिये होते हैं।

शरीरादि संहत पदार्थ हैं, अर्थात् कुछ मिले हुए तत्त्वों का नाम शरीर है। अतः ये किसी दूसरी वस्तु की अपेक्षा करते हैं इनके द्वारा भोग और अपवर्ग हैं। जिसके लिये यह प्रकृति भोग या अपवर्ग का सामान पैदा करती है; वह वस्तु पुरुष है, अर्थात् आत्मा है।

"त्रिगुणादिविपर्ययात्" ॥ १४१ ॥

त्रिगुणादि के विपर्यय से।

त्रिगुण अर्थात, सत्व, रज तथा तम से पैदा हुए २ जो सुख दुःख तथा मोहादि गुण हैं; इनका सम्बन्ध केवल शरीर के साथ है। वह पुरुष इनसे विपरीत है; इनसे भिन्न है। क्योंकि वह इनका भोक्ता है; और भोग तथा भोक्ता एक नहीं हो सकते।

"अधिष्ठानाच्चेति" ॥ १४२ ॥

वह पुरुष चेतन होने के कारण अधिष्ठाता है ।

प्रकृति जड़ है; इसलिये वह अधिष्ठाता नहीं हो सकती । पुरुष अधिष्ठाता होने से प्रकृति से जुदा है । जब प्रकृति को आधार कहा जाता है तब उसका कोई आधेय भी होना चाहिये वह आधेय पुरुष है ।

"भोक्तृ-भावात्" ॥ १४३ ॥

भोक्ता के भाव से ।

शरीरादि में भोक्ता के भाव होने से शरीरादि का स्वरूप ही भोक्ता नहीं है । शरीरादि से भिन्न पुरुष भोक्ता है । यदि शरीरादि को भोक्ता माना जाय, तो भोग किसको मानेंगे । वही कर्त्ता और वही कर्म ऐसा होना असम्भव है ।

"कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च" ॥१४४॥

(कैवल्यार्थम्) मोक्ष के लिये (प्रवृत्तेः) प्रवृत्ति होने से (च) और ।

यदि नश्वर शरीरादि को भोक्ता माना जाय, तो दुःख-नाश के लिये जो प्रयत्न पुरुष द्वारा किया जाता है, वह व्यर्थ हो जायगा । क्योंकि भोक्ता के नष्ट हो जाने से सब सुख–दुःख भी स्वयं नष्ट हो जायेंगे । फिर मनुष्य व्यर्थ ही मोक्ष के लिये प्रयत्न कर रहा है ।

"जडप्रकाशायोगात् प्रकाशः" ॥१४५॥

(जडप्रकाशायोगात्) जड़ के प्रकाश के योग न होने से (प्रकाशः) प्रकाश भिन्न है।

प्रकाश का अर्थ ज्ञान है। प्रकृति आदि जड़ होने से ज्ञान से रहित हैं। पुरुष ज्ञानवान् दीखता है; इसलिये वह प्रकृति से भिन्न है।

"निर्गुणत्वान्न चिद्धर्मा" ॥१४६॥

(चिद्धर्मा) आत्मा (निर्गुणत्वात्) निर्गुण होने से (न) तमोगुण, रजोगुण वाला नहीं है।

प्रश्न यह है, कि क्या प्रकाश स्वरूप आत्मा में तमोगुणादि का भाव है या नहीं ?

कपिल मुनि उत्तर देते हैं—नहीं है; क्योंकि पुरुष निर्गुण है और यह प्रकृति के धर्म हैं।

"श्रुत्या सिद्धस्य नापलापस्तत्प्रत्यक्षबाधात्" ॥१४७॥

(श्रुत्या) श्रुति से (सिद्धस्य) सिद्ध का (न) नहीं है (अपलापः) असत् वचन (तत्) उसके (प्रत्यक्षबाधात्) प्रत्यक्ष से बाधा होने से।

आत्मा का निर्गुण होना केवल अनुमान से ही सिद्ध नहीं है; प्रत्युत श्रुति से भी सिद्ध है; यथा—

"साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च"

वह आत्मा साक्षी, चेतन, केवल तथा निर्गुण है।

जब श्रुति ने आत्मा का यह स्वरूप ठहराया है, तब यदि

प्रत्यक्ष रूप से आत्मा का ऐसा सिद्ध होना असम्भव हो, तो भी हमें यही स्वीकार करना चाहिये कि आत्मा का स्वरूप जैसा श्रुति में वर्णित है, वह ठीक है।

"सुषुप्त्याद्यसाक्षित्वम्" ॥१४८॥

(सुषुप्त्यादौ) सुषुप्ति आदि में (असाक्षित्वम्) उसका प्रत्यक्ष न होना।

यदि आत्मा प्रकृति से भिन्न नहीं है अर्थात् प्रकृति जड़वत् है, तब सुषुप्ति स्वप्नादि का उसे साक्षी नहीं कहा जा सकता। परन्तु हमारा अनुभव इसके विपरीत है। हम देखते हैं, कि जब हम गाढ़ निद्रा से उठते हैं, तो कहते हैं कि आज मुझे खूब नींद आई; कुछ पता ही नहीं रहा। इस अवस्था का साक्षी चेतन हो सकता है, जड़ वस्तु नहीं हो सकती।

अब प्रश्न यह है, कि वह आत्मा एक है या अनेक ?

इसका उत्तर कपिल मुनि निम्न सूत्र मे देते हैं—

"जन्मादिव्यवस्थातः पुरुषबहुत्वम्" ॥१५६॥

(जन्मादिव्यवस्थातः) जन्म, मरण, बद्ध तथा मुक्तादि की व्यवस्था से (पुरुषबहुत्वम्) पुरुषों का बहुत होना सिद्ध होता है।

इस संसार में भिन्न २ अवस्थायें देख रहे हैं—कई पैदा हो रहे हैं, कई मर रहे हैं, कई दुःखी हैं और सुखी हैं। यह सब अवस्थायें प्रगट करतीं है कि पुरुष अनेक हैं।

कुछ विद्वानों का मत यह है कि आत्मा बहुत नहीं हैं; प्रत्युत एक है—उपाधि भेद से वह नाना प्रतीत होता है। निम्न सूत्र में

इस सिद्धान्त को प्रगट कर पुनः उस की आलोचना की है।

"उपाधिभेदेऽप्येकस्य नानायोग आकाशस्येव घटादिभिः" ॥१५०॥

(उपाधिभेदेऽपि) उपाधि भेद में भी (एकस्य) एक का (नानायोगः) नाना प्रकार का प्रतीत होता है (आकाशस्य) आकाश की (इव) तरह (घटादिभिः) घट आदिकों के साथ ।

जिस प्रकार आकाश तो एक है, परन्तु जब घट के साथ उसका संयोग होता है, तो वह घटाकाश कहलाता है और जब मठ के साथ होता है, तो मठाकाश कहलाता है। इसी प्रकार आत्मा एक है, उपाधि भेद से भिन्न २ प्रतीत होता है।

"उपाधिर्भिद्यते, न तु तद्वान्" ॥१५१॥

(उपाधिर्भिद्यते) उपाधि का भेद होता है (न तु तद्वान्) परन्तु उपाधि वाले में भेद नहीं होता ।

उपाधियां भिन्न हैं, परन्तु यदि उपाधिवाला एक ही है, तो उसमें भिन्न २ उपाधियां एक ही समय में होनी असम्भव हैं।

"एवमेकत्वेन परिवर्तमानस्य विरुद्धधर्माध्यासः" ॥१५२॥

(एवम्) इस प्रकार (एकत्वेन) एक आत्मा मानने से (परिवर्तमानस्य) उपाधि वाले का (न) नहीं होगा (विरुद्धधर्माध्यासः) विरुद्ध धर्मों का भान।

यदि एक ही आत्मा है, तो उस में विरुद्ध धर्मों का एक ही समय में भान होना यथार्थ नहीं है। कोई सुखी है, कोई दुःखी

है, कोई बद्ध है, कोई मुक्त है, कोई उत्पन्न हो रहा है और कोई मरणावस्था को प्राप्त हो रहा है। ऐसी अवस्था में यह विरुद्ध धर्म एक ही आत्मा में प्रतीत हो रहे हों, ऐसा मानना असम्भव प्रतीत होता है।

"अन्यधर्मत्वेऽपि नारोपात् तत्सिद्धिरेकत्वात्" ॥१५३॥

(अन्यधर्मत्वेऽपि) अन्य के धर्म होने पर भी (आरोपात्) आरोप करने से (न तत्सिद्धिः) नहीं है उसकी सिद्धि (एकत्वात्) एक होने के कारण।

यदि यह कहा जाय कि जन्म, मरण, सुख और दुःख, ये आत्मा के धर्म नहीं हैं, प्रत्युत मन के अथवा प्रकृति के धर्म हैं, और आत्मा में आरोपित किये गये हैं; फिर भी एक ही आत्मा में इन सब धर्मों को आरोपित करना सम्भव प्रतीत नहीं होता।

"नाद्वैतश्रुतिविरोधो जातिपरत्वात्" ॥१५४॥

(नाद्वैतश्रुतिविरोधः) अद्वैत श्रुति का विरोध नहीं है (जातिपरत्वात्) जाति परक होने से।

यदि यह कहा जाय कि आत्मा को बहुत संख्या में मान लेने से अद्वैत-धर्म (श्रुति) का विरोध हो जायगा। तो यह कथन अशुद्ध है—अद्वैत का विरोध नहीं है; क्योंकि ये सब आत्माएं अपने सामान्य धर्म रखती हैं। उस अंश में वे सब एक हैं, जैसे, दीपक अनेक हैं, परन्तु प्रकाश करना उनका सामान्य-धर्म है, उसमें वे सब एक हैं।

"विदितबन्धनकारणस्य दृष्ट्याऽतद्रूपम्" ॥१५५॥

(विदितबन्धनकारणस्य) भ्रमात्मक ज्ञान या अयथार्थ ज्ञान का (दृष्ट्या) दृष्टि से (अतद्रूपम्) वास्तविक स्वरूप का पता नहीं लगता।

अविवेक के कारण मनुष्य को यथार्थ बोध नहीं होता। जब उसे विवेक ज्ञान हो जायगा, तब उसे स्पष्ट प्रतीत होगा कि आत्माएं जाति-परक (सामान्यधर्म) में एक हैं; परन्तु संख्या में अनेक हैं। यह ज्ञान तब प्रतीत होगा, जब विवेक-ख्याति प्राप्त हो जायगी।

"नान्धाऽदृष्ट्या चक्षुष्मतामनुपलम्भः" ॥१५६॥

(अन्धादृष्ट्या) अन्धे की अदृष्टि से (चक्षुष्मताम्) आंखों वालों का (अनुपलम्भः) न प्राप्त होना (न) नहीं है।

जो वस्तु अन्धे को दिखाई नहीं देती, उससे यह तात्पर्य निकालना कि वह आंखों वालों को दिखलाई नहीं देती है—ऐसा कहना हास्यास्पद है। दूसरे शब्दों में जिसे अज्ञानी अपने अज्ञान के कारण समझने में असमर्थ है, वह ज्ञानवान् के लिये भी उपलब्ध नहीं है ऐसा समझना सर्वथा अनुचित प्रतीत होता है।

"वामदेवादिमुक्तो न द्वैतम्" ॥१५७॥

(वामदेवादिमुक्तः) वामदेव, शुकदेव आदि मुक्त हो गये (न) नहीं है (अद्वैतम्) अद्वैतधर्म।

कपिल मुनि कहते हैं कि जिसे अद्वैतवाद तुम समझते हो, वह ठहर नहीं सकता। यदि तुम यह वचन बोलते हो कि वामदेव मुक्त हो गया शुकदेव मुक्त हो गया इत्यादि। इसका

मतलब यह होगा कि कई ऐसे भी हैं जो मुक्त नहीं हुए जो बद्ध हैं। ऐसी अवस्था में अद्वैत कहां रहा ?

"अनादावद्ययावदभावाद्भविष्यदप्येवम्"॥१५८॥

(अनादौ) अनादिकाल से (अद्ययावत) आजतक (अभावात्) अभाव होने से (भविष्यदपि) भविष्य का भी (एवम्) इसी प्रकार।

कपिल मुनि कहते हैं कि अनादि काल से इस समय तक यह नहीं देखा गया कि किसी वस्तु का सर्वथा अभाव हो गया हो। इससे स्पष्ट अनुमान लगाया जा सकता है कि भविष्य में भी ऐसा कभी न होगा कि सर्वथा किसी वस्तु का अभाव हो गया हो।

"इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः"॥१५९॥

(इदानीम्) अब (इसकाल के) (इव) समान (सर्वत्र) सब काल में (न) नहीं है (अत्यन्तोच्छेदः) बिल्कुल निवृत्ति।

१५८ सूत्र में कहा है कि किसी वस्तु का हमेशा के लिये अभाव नहीं हो सकता। उसी सिद्धान्त के आधार पर कपिल मुनि स्पष्ट करते हैं कि किसी वस्तु का हमेशा के लिये अभाव नहीं हो सकता, केवल तिरोभाव होता है।

आत्मा के स्वरूप का वर्णन हो चुका। अब ईश्वर के स्वरूप का वर्णन करते हैं।

"व्यावृत्तोभयरूपः"॥१६०॥

(व्यावृत्तः) भिन्न है (उभयरूपः) दोनों रूपों से (प्रकृति और पुरुष से)।

ईश्वर प्रकृति और पुरुष से भिन्न है। गीता में भी भगवान ने कहा है—

"उत्तमःपुरुषस्तु अन्यः परमात्मेत्युदाहृतः"

प्रकृति और पुरुष को तुम अनादि समझो और ईश्वर को इनसे भिन्न समझो।

इस सूत्र का आशय भी यही है कि प्रकृति और पुरुष से भिन्न वह ईश्वर है।

"साक्षात्सम्बन्धात् साक्षित्वम्"॥१६१॥

(साक्षात् सम्बन्धात्) साक्षात् सम्बन्ध होने से (साक्षित्वम्) साक्षी है।

प्रकृति तथा जीवात्मा के साथ सबन्ध होने से और उनका अधिपति होने से वह उनका साक्षी है-वह उनके कार्य का निरीक्षक है। वेद में भी लिखा है—

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यःपिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति"

अर्थात् दो पक्षी एक वृक्ष की टहनी पर बैठे हैं वह साक्षी और मित्र हैं एक उस वृक्ष के फल को खा रहा है और दूसरा देख रहा है।

"नित्यमुक्तत्वम्"॥१६२॥

वह ईश्वर नित्य मुक्त है।

योग दर्शन में लिखा है—

"क्लेशकर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः"

क्लेश, कर्मों तथा उनके फलों से जो न छुवा गया हो-ऐसा

जो पुरुष विशेष है-वही ईश्वर है ।

"औदासीन्यञ्चेति" ॥ १६३ ॥

वह परमात्मा उदासीन वृत्ति वाला है अर्थात पक्षपात रहित है । वह न्यायकर्ता है और किसी का पक्ष नहीं लेता ।

"उपरागात्कर्तृत्वं चित्सान्निध्याच्चित्सान्निध्यात्" ॥१६४॥

प्रकृति और जीवात्मा के साथ सम्बन्ध होने से उस परमात्मा की कर्तृत्व-शक्ति का प्रसार दिखलाई देता है । अर्थात वह ईश्वर इस सृष्टि का कर्ता, पालक, पोषक और संहारक कहलाता है ।

नोट— १५६ सूत्र से १६४ सूत्र तक भाष्यकारों ने इनके बहुत विलक्षण अर्थ किये हैं । उन्हें ईश्वर-परक न लगाकर के, आत्मा-परक अर्थ लगाये हैं ।

* ओ३म *

द्वितीय-अध्याय

दूसरे अध्याय में प्रकृति के विकसित कार्यों की विस्तृत रूप से व्याख्या की गई है और बतलाया है कि प्रकृति और उस की सृष्टि के ज्ञान से ही पुरुष को अपने स्वरूप का साक्षात्कार हो सकता है। इसलिये कपिल मुनि कहते हैं—

"विमुक्तविमोक्षार्थं स्वार्थं वा प्रधानस्य"

यह प्रकृति का विकास पुरुष को मोक्ष देने के लिये है और प्रकृति के अपने स्वार्थ के लिये भी है, जिसे हम सृष्टि कहते हैं। कपिल मुनि उसे राग और विराग का योग कहते हैं।

"रागविरागयोर्योगः सृष्टिः"

वह सृष्टि प्रक्रिया किस प्रकार होती है ?

"महदादि क्रमेण पञ्च भूतानाम्"

महत्तत्वादिकों से आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी, ये पञ्च भूत पैदा हुए हैं। दिशा और काल ये दोनों आकाश से पैदा हुए हैं। इस कारण ये दोनों आकाश के समान नित्य हैं और व्यापक हैं। निश्चयात्मक ज्ञान का नाम बुद्धि है। उस बुद्धि का कार्य धर्मादिक है। अभिमान को अहंकार कहते हैं। पांच ज्ञानेन्द्रियां पांच कर्मेन्द्रियां, ११ वां मन

और पांच तन्मात्राएं (शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श) ये सब अहंकार से पैदा हुए हैं।

वाणी, हाथ, पांव, गुदा और उपस्थ कर्मेन्द्रियां हैं।

नेत्र, कान, त्वचा, रसना (जीभ), और प्राण ये ज्ञानेन्द्रियां हैं।

अहंकार के सतोगुण भाग से मन उत्पन्न होता है।

अहंकार के तमोगुण भाग से पञ्च तन्मात्राएं (शब्द, रस, रूप, गन्ध और स्पर्श) उत्पन्न होती हैं।

कई लोग समझते हैं कि हमारी इन्द्रियों की उत्पत्ति पांच भूतों से हुई है न कि अहंकार से। कपिल मुनि कहते हैं कि यह अशुद्ध है; क्योंकि श्रुति में कहा है—"एकोऽहं बहुस्याम्" एक मैं बहुत रूपों को धारण करता हूं।

"आहंकारिकत्वश्रुतेर्न भौतिकानि"

फिर प्रश्न उपस्थित होता है कि श्रुति में यह जो लिखा है कि अग्नि में वाणी लय हो जाती है और वायु में प्राण लय हो जाता है(अग्निं वागप्येति वातं प्राणः) इससे यह क्यों न समझा जाय कि वाणी और प्राण की उत्पत्ति भी इन्हीं अग्नि और वायु से हुई है ?

भगवान् कपिल कहते हैं कि यह आवश्यक नहीं कि जिनमें लय हो, उन्हीं से उत्पत्ति हो। इसलिये इन्द्रियों की उत्पत्ति अहंकार से है, न कि पांच भूतों से।

पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं, पांच कर्मेन्द्रियां हैं और ११ वां मन है। क्या यह ११ वां मन नित्य है या अनित्य है ? कपिल मुनि

कहते हैं कि यह अनित्य है; क्योंकि श्रुति में लिखा है कि मन और प्राण उत्पन्न हुए हैं। जो उत्पन्न हुआ है, उसका नाश भी अवश्य होगा। बुढ़ापे में जब इन्द्रियां शिथिल हो जातीं हैं, तो मन शिथिल होता देखा गया है। कई लोग इस भ्रम में हैं कि इन्द्रियां (आंख, कान तथा नाक आदि) जो हमें बाहर से दिखाई देतीं हैं, वही इन्द्रियां हैं। कपिल मुनि कहते हैं कि ये इन्द्रियों के गोलक हैं। वास्तव में जो इन्द्रियां हैं, वे अन्दर हैं और वे अतीन्द्रिय हैं। मन के बिना ये इन्द्रियां कुछ काम नहीं कर सकती। जिस इन्द्रिय के साथ मन का मेल होगा, वही इन्द्रिय काम करेगी। अन्यथा यदि मन किसी और तरफ लगा हुआ हो, तो मनुष्य देखता हुआ भी नहीं देखता और सुनता हुआ भी नहीं सुनता। इसलिये मन को—"उभयात्मकं मनः" कहा है; क्योंकि उसका सम्बन्ध कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों-दोनों प्रकार की इन्द्रियों के साथ है।

परन्तु क्या मन और क्या इन्द्रियां—इन सब में परिणामत्व प्रगट है। इसलिये इनका कोई साक्षी होना चाहिये, जो इनके परिणामावस्था का निरीक्षण कर सके। वह मनुष्य की आत्मा है, जो अपरिणामी है और इनका द्रष्टा है।

मन की वृत्तियां ही मनुष्य को जन्म-मरण के बन्धनों में डालती हैं। इसलिये उन सबको रोकने से ही मनुष्य अपने स्वरूप का साक्षात्कार कर सकता है।

"तन्निवृत्तावुपशान्तोपरागः स्वस्थः"

मन की वृत्तियों के निवृत्त होने पर पुरुष का उपराग शान्त हो जाता है। और पुरुष स्वस्थ हो जाता है, अर्थात् वह अपने स्वरूप का साक्षात्कार कर लेता है। जिस प्रकार स्फटिकमणि के पास नीले, पीले फूल रख दिये जावें, तो वह मणि भी उसी रंग की प्रतीत होने लगती है। जब वे फूल हटा दिये जाते है, तब मणि भी शुद्धरूप में दिखलाई देती है।

अब प्रश्न यह है कि मन को सब इन्द्रियों का प्रधान समझा गया है, तब बुद्धि अहंकारादि की विवेचना और उनका सम्बन्ध इन्द्रियों से क्या रह जायेगा? कपिल मुनि उत्तर देते हैं कि जिस प्रकार पुलिस के सिपाहियों में थानेदार मुख्य है, थानेदारों में इन्सपैक्टर मुख्य है, और इन्सपैक्टरों में सुपरिन्टैण्डेन्ट मुख्य है; इसी प्रकार इन्द्रियों के कार्य में मन प्रधान है, मन के कार्य में अहंकार प्रधान है और अहंकार के कार्य में बुद्धि प्रधान है।

फिर प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जब आत्मा का प्रत्येक इन्द्रिय के साथ सम्बन्ध है और प्रत्येक इन्द्रिय उसकी समीपता से प्रकाशित हो रही है; तब बुद्धि या मन को प्रधानता देनी व्यर्थ है। स्वभाव से बुद्धि जड़ है। वह भी आत्मा के संसर्ग से प्रकाशित होती है। ऐसी अवस्था में फिर प्रधानता क्यों दी जाय? कपिल मुनि उत्तर देते हैं यह ठीक है कि सब इन्द्रियों के साथ जीवात्मा का समान सम्बन्ध है। परन्तु जिस प्रकार मन्त्री भी एक प्रजा का व्यक्ति है; किन्तु अपने कार्य की हैसियत से प्रजा में मुख्य समझा जाता है इसी प्रकार बुद्धि

अपनी विशेषता से शेष सब इन्द्रियों से मुख्य समझी गई है। निम्न सूत्र में भी यही कहा है।

"समान कर्मयोगे बुद्धेः प्राधान्यं लोकवल्लोकवत्"

इस प्रकार प्रकृति और उसके कार्यों का वर्णन इस द्वितीय अध्याय में आता है। इन कार्यों का सम्यक् ज्ञान ही मनुष्य को मोक्ष दिलाने में सहायक है। यह दूसरे अध्याय का सारांश है।

❀ ओ३म् ❀

द्वितीय-अध्याय

"विमुक्तमोक्षार्थं स्वार्थं वा प्रधानस्य" ॥१॥

(विमुक्तमोक्षार्थम्) जिस पुरुष को अभिमानिक-बन्ध प्राप्त हुआ है, उसको बन्ध से छुड़ाने के लिये (प्रधानस्य) प्रकृति का (स्वार्थं वा) या अपने प्रयोजन के लिये।

प्रथम अध्याय में सांख्य का विषय निरूपण हो चुका अब प्रकृति का सृष्टि पैदा करने में क्या प्रयोजन है, उसे इस दूसरे अध्याय में दर्शाते हैं।

प्रकृति का सृष्टि रचने का यह प्रयोजन है, कि पुरुष जो अज्ञान वश अपने आपको बद्ध समझता है, उसे उन बन्धनों से छुटकारा मिले, या प्रकृति से बना हुआ जो मन है, वह सुख दुःख में लिप्त हुआ २ नाना २ प्रकार की लीलायें कर रहा है, उनसे उसका मोचन हो जाय।

"विरक्तस्य तत्सिद्धेः" ॥२॥

(विरक्तस्य) विरक्त को (तत्सिद्धेः) उसकी सिद्धि होने से।

जिस मनुष्य को पर-वैराग्य हो गया है, वही मोक्ष का अधिकारी है।

पर-वैराग्य का लक्षण निम्न है—

"तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्"

जिस पुरुष को न केवल पदार्थों से वैराग्य है, प्रत्युत जिसको पदार्थों के गुणों में भी तृष्णा नहीं रही । उसे पर-वैराग्य-वाला समझो ।

"न श्रवणमात्रात्तत्सिद्धिरनादि वासानाया बलवत्त्वात्" ॥३॥

(अनादिवासनाया बलवत्त्वात्) अनादि वासना के बलवान् होने पर (श्रवणमात्रात्) श्रवण मात्र से (न तत्सिद्धिः) उसकी सिद्धि नहीं है ।

अनेक जन्मों की वासनाएं हमें कमजोर कर चुकी हैं। इसलिये उन वासनाओं के बलवान होने से केवल एक-दो बार के उपदेश सुनने से पर-वैराग्य प्राप्त नहीं होता । अतः इसके लिये अनेक प्रयत्न करने पड़ते हैं और तब जाकर पर-वैराग्य की अवस्था उपलब्ध होती है।

"बहुभृत्यवद्वा प्रत्येकम्" ॥४॥

(वा) अथवा (बहुभृत्यवत्) बहुत नौकरों की तरह (प्रत्येकम्) हर एक को।

जिस प्रकार एक गृहस्थी के कई नौकर होते हैं और उनका पालन-पोषण उस एक गृहस्थी के सहारे समझा जाता है। ठीक इसी प्रकार प्रकृति के प्रत्येक सत्त्वादि गुण से अनेक पुरुषों को लाभ मिलता है और जिन को लाभ नहीं पहुंचता, उनके लिये सृष्टि का प्रवाह बना रहता है ।

"प्रकृतिवास्तवे च पुरुषस्याऽध्याससिद्धिः" ॥ ५ ॥

(प्रकृतिवास्तवे)प्रकृति ही वास्तव में सृष्टि का कारण है (पुरुषस्य) पुरुष को (अध्याससिद्धिः) प्रकृति के साथ उपराग होने से सृष्टि-कर्तृत्व का भागी समझा जाता है।

वास्तव में प्रकृति ही सृष्टि का कारण है। परन्तु पुरुष को या परमेश्वर को इसका कारण अध्यास मात्र से कहा जाता है; जैसे-लड़ाई तो सिपाही लड़ते हैं, परन्तु लड़ाई की हार या जीत राजा की समझी जाती है। इसी प्रकार प्रकृति ही सृष्टि करती है। परन्तु पुरुष या ईश्वर को कर्ता उसी अर्थ में समझा जाता है, जिस अर्थ में राजा लड़ाई की हार और जीत का जिम्मेवार है।

प्रश्न— हमारे पास क्या युक्ति और प्रमाण हैं, कि जिससे सृष्टि का कारण प्रकृति हो? इसका उत्तर कपिलमुनि अगले सूत्र में देते हैं—

"कार्यतस्तत्सिद्धेः" ॥ ६ ॥

(कार्यतः) कार्य के देखने से (तत्सिद्धिः) उसकी सिद्धि है।

कार्यों को देखने ही से प्रकृति के कारण होने की सिद्धि स्पष्ट है। क्योंकि सृष्टि के ये कार्य सिवाय प्रकृति के और किसी के नहीं हो सकते। यदि ये पुरुष के समझे जावें, तो पुरुष परिणामी ठहराया जायगा।

प्रश्न— यदि प्रकृति का स्वभाव प्रवृत्ति है, तो वह सब पुरुषों में प्रवृत्त हो। मुक्त-पुरुषों में भी प्रकृति प्रवृत्त होनी चाहिये। इसका उत्तर कपिल मुनि निम्न सूत्र में देते हैं—

"चेतनोद्देशान्नियमः कण्टकमोक्षवत्" ॥ ७ ॥

(चेतनोद्देशात्) चेतन के उद्देश्य से (नियमः) नियम है (कण्टकमोक्षवत्) कांटे के मोक्ष के समान।

जैसे ज्ञानी पुरुष कांटे वाले मार्ग से नहीं गुजरता और यदि कांटा चुभ जाय तो उसे निकाल लेने की शक्ति रखता है, अज्ञानी (पशु आदि) को कांटा लग जाय तो वह निकालने में असमर्थ होता है। इसी प्रकार जो विवेकी पुरुष होते हैं, वे प्रकृतिरूपी कांटों से बचे रहते हैं और जो अज्ञानी होते हैं, वे उनमें फंस जाते हैं।

"अन्ययोगेऽपि तत्सिद्धिर्नाञ्जस्येनायोदाहवत्" ॥८॥

(अन्ययोगेऽपि) प्रकृति के योग में भी (तत्सिद्धिः) पुरुष या ईश्वर का कर्तृत्व सिद्ध है (नाञ्जस्येन) प्रत्यक्ष रूप से नहीं (अयोदाहवत्) लोहे के दाह के समान।

पुरुष या ईश्वर का सृष्टि-कर्तृत्व प्रकृति के संयोग से है। यदि प्रकृति का योग न हो, तो जीवात्मा या परमेश्वर किसका कर्त्ता कहलायेगा। इसलिये प्रकृति का सनातन योग मानना चाहिये; जैसे-लोहा जलाता नहीं, पर अग्नि के सम्बन्ध से जलाने वाला कहलाता है। इसी प्रकार पुरुष या ईश्वर का सृष्टि-कर्त्तत्व नहीं, पर प्रकृति के संयोग से उनका सृष्टि-कर्त्तृत्व है।

"रागविरागयोर्योगः सृष्टिः" ॥९॥

(रागविरागयोः) भोग और अपवर्ग का (योगः) योग ही (सृष्टिः) सृष्टि कहलाता है।

जहां भोग और अपवर्ग दोनों मिलते हैं, वही सृष्टि है।

"महदादिक्रमेण पञ्चभूतानाम्" ॥१०॥

(महदादिक्रमेण) महत्तत्व आदि के क्रम से (पञ्चभूतानाम्) पांच भूतों की सृष्टि होती है।

प्रकृति से महत्तत्व, महत्तत्व से अहंकार, अहंकार से पञ्च-तन्मात्रायें, और पञ्चतन्मात्राओं से पांच महाभूत।

महत्तत्व=बुद्धि

अहंकार=अभिमान

पञ्चतन्मात्राएं=शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श

पञ्चमहाभूत=पृथ्वी, जल, वायु, आकाश और तेज

"आत्मार्थत्वात्सृष्टेर्नैषामात्मार्थ आरम्भः" ॥११॥

(सृष्टेः) सृष्टि का (आत्मार्थत्वात्) आत्मा के लिये होने से (न+एषाम्) नहीं है उनका (आत्मार्थः) अपने लिये (आरम्भः) शुरू।

इन महदादिकों का कारणत्व पुरुष के मोक्ष के लिये है, किन्तु अपने लिये नहीं; क्योंकि महदादि विनाशी हैं।

"दिक्कालावाकाशादिभ्यः" ॥१२॥

(दिक्कालौ) दिशा और काल (आकाशादिभ्यः) आकाश आदि से।

दिशा और काल की उत्पत्ति आकाश से हुई है। जिस प्रकार आकाश विभु है और नित्य है। इसी प्रकार दिशा और काल आकाश के कार्य भी विभु और नित्य हैं, और जो खण्ड दिशा और काल हैं, सो उपाधियों के मेल से आकाश से पैदा होते हैं।

"अध्यवसायो बुद्धिः ॥१३॥

निश्चयात्मक-ज्ञान का नाम बुद्धि है।

"तत्कार्यं धर्मादि" ॥१४॥

(तत्कार्यम्) उस बुद्धि के कार्य (धर्मादि) धर्मादि हैं।

उस बुद्धि के कार्य धर्मादि हैं। धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य्य-कार्यों का उपादान बुद्धि है।

"महदुपरागाद्विपरीतम्" ॥१५॥

बुद्धि जब रजोगुण और तमोगुण से संयुक्त हो जाती है, तब विपरीत अवस्था अर्थात् अज्ञान, अधर्म, अवैराग्य और अनैश्वर्य को प्राप्त हो जाती है।

अभिमानोऽहंकारः ॥१६॥

अभिमान को ही अहंकार कहते हैं। मैं हूँ, मैं कर्त्ता हूँ, इस भाव को अहंकार कहते हैं।

"एकादशपञ्चतन्मात्रं तत्कार्यम्" ॥१७॥

ग्यारह इन्द्रियां और पञ्चतन्मात्रायें इस अहंकार के कार्य हैं। ग्यारह इन्द्रियां=पांच ज्ञान-इन्द्रियां, पांच कर्म-इन्द्रियां और एक मन। पञ्चतन्मात्राएं=रूप, रस, गन्ध, शब्द तथा स्पर्श।

"सात्त्विकमेकादशकं प्रवर्तते वैकृतादहंकारात्"॥१८॥

(वैकृतादहङ्कारात्) विकार को प्राप्त हुए अहंकार से (एकादशकम्) ग्यारहवां (सात्विकम्) सात्विक कार्य (प्रवर्तते) प्रवृत्त होता है।

अहंकार तीन प्रकार का है—सात्त्विक, राजस और तामस।

सात्त्विक अहंकार से सात्त्विक-मन प्रवृत्त होता है, राजस अहं-कार से दश इन्द्रियां और तामस अहंकार से पञ्चतन्मात्राएं उत्पन्न होती हैं।

"कर्मेन्द्रियबुद्धीन्द्रियैरान्तरमेकादशम्" ॥१९॥

कर्मेन्द्रियां=मुख, हस्त, पाद, पायु (गुदा) और उपस्थ (लिंग या योनि)।

ज्ञानेन्द्रियां=कान, नाक, रसना, त्वचा और नेत्र।

इन कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों के साथ ग्यारहवीं आन्तर-इन्द्रिय है, जिसे मन कहते हैं।

"आहङ्कारिकत्वश्रुतेर्न भौतिकानि" ॥२०॥

(आहङ्कारिकत्वश्रुतेः) आहंकारिक होना श्रुति मे सिद्ध होता है (न भौतिकानि) भौतिक नहीं।

इन्द्रियां अहंकार से उत्पन्न होती हैं पञ्च महाभूत से नहीं, यह आशय है।

गत सूत्र में कहा है—इन्द्रियों की उत्पत्ति अहंकार से है, भूतों से नहीं। इसी को निम्न सूत्र में अधिक स्पष्ट करते हैं।

"देवतालयश्रुतेर्नारम्भकस्य" ॥२१॥

(देवतालयश्रुतेः) श्रुति द्वारा यह विदित है कि दिव्य भौतिक गुणों में इन्द्रियों का लय हो जाता है; जैसे "आदित्यं वै चक्षुर्गच्छति" आंख सूर्य में लय हो जाती है। परन्तु लय होना एक बात है और उससे उत्पन्न होना और बात है। (नाऽऽरम्भकस्य) उनसे उत्पन्न नहीं होती।

सारांश यह है कि इन्द्रियां दिव्य गुणों में लय हो जाती हैं,

परन्तु उनसे उत्पन्न नहीं होतीं; जैसे पानी जमीन में लय हो जाता है, परन्तु उससे उत्पन्न नहीं होता।

अतएव सिद्ध हुआ कि इन्द्रियां पञ्चमहाभूतों से उत्पन्न नहीं हुईं।

कई विद्वान् इन्द्रिय सम्बन्धित मन को नित्य मानते हैं, इसका उत्तर कपिल मुनि निम्न सूत्र में देते हैं—

"तदुत्पत्तिश्रुतेर्विनाशदर्शनाच्च" ॥२२॥

(तदुत्पत्तिश्रुतेः) उसकी उत्पत्ति श्रुति से सिद्ध है (विनाशदर्शनाच्च) और विनाश के देखने से।

मन अन्य इन्द्रियों की तरह अनित्य है; क्योंकि श्रुति में आता है—"एतस्माज्जायते प्राणो मनस्सर्वेन्द्रियाणि च" इस श्रुति से स्पष्ट है कि मन पैदा होता है और उसका नाश भी होगा। हम देखते हैं कि बुढ़ापे में जब नेत्रादि कमजोर होने लगते हैं, तो मन भी कमजोर हो जाता है।

कई समझते हैं कि जो बाहर के नाक और कानादि के गोलक हमें दिखलाई देते हैं, वे ही इन्द्रियां हैं। इसका उत्तर कपिल मुनि निम्न सूत्र में देते हैं—

"अतीन्द्रियमिन्द्रियं भ्रान्तानामधिष्ठाने" ॥२३॥

(अतीन्द्रियम्) अत्यन्त सूक्ष्म हैं, प्रत्यक्ष नहीं हैं (इन्द्रियम्) इन्द्रियां (भ्रान्तानाम्) भ्रान्त पुरुषों को—अज्ञानी लोगों को (अधिष्ठाने) बाहर के गोलकों में।

जो अज्ञानी पुरुष हैं, वे इन बाहिर के गोलकों को इन्द्रियां

समझते हैं। वस्तुतः इन्द्रियां अति सूक्ष्म हैं और प्रत्यक्ष नहीं हैं।

क्या इन्द्रिय एक है या अनेक हैं? इसका उत्तर निम्न सूत्र में दिया गया है—

"शक्तिभेदेऽपि भेदसिद्धौ नैकत्वम्" ॥२४॥

(शक्तिभेदेऽपि) शक्ति भेद होने में भी (भेदसिद्धौ) भेद की सिद्धि होने में (नैकत्वम्) एक होना सिद्ध नहीं होता।

यदि एक इन्द्रिय मानी जावे, तब उस एक इन्द्रिय की अनेक शक्तियां माननी पड़ेंगी। वे शक्तियां एक दूसरे से भिन्न होंगी। तब भी एकत्व न रहा। इसलिये इन्द्रिय एक नहीं अनेक हैं।

"न कल्पनाविरोधः प्रमाणदृष्टस्य ॥२५॥

(प्रमाणदृष्टस्य) प्रत्यक्ष प्रमाण से जो देखा गया है, उसका (न कल्पना विरोधः) उसमें कल्पना विरोध नहीं हो सकता।

जो बात प्रत्यक्ष है, उसके विषय में विचित्र कल्पनाएं करना व्यर्थ है। नानाविध इन्द्रियां स्पष्ट दिखलाई दे रही हैं, उनके लिये युक्तियां ढूंडना निरर्थक है।

अब मन का लक्षण करते हैं—

"उभयात्मकं च मनः" ॥२६॥

(उभयात्मकम्) दोनों इन्द्रियात्मक (मनः) मन है।

कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों से मन का सम्बन्ध है। अर्थात् मन के विना कोई भी इन्द्रिय अपने किसी काम को करने में समर्थ नहीं।

"गुणपरिणामभेदान्नानात्वमवस्थावत्" ॥२७॥

(गुणपरिणामभेदात्) गुणों के परिणाम भेद से (नानात्वम्) नाना भेद वाला सिद्ध होता है (अवस्थावत्) अवस्था की तरह।

जिस संगति में मनुष्य बैठेगा, वह वैसा ही हो जायगा। कामी पुरुषों की संगत में वह कामी बन जायगा और विरक्त पुरुषों की संगत में विरक्त हो जायगा। अर्थात् गुणों के परिणाम भेद से मनुष्य का एक ही मन नाना रूप धारण कर लेता है; जैसे एक ही देह की बाल्यावस्था, यौवनावस्था और वृद्धावस्थादि कई भेद होते हैं। इसी प्रकार मन के भी अनेक भेद हो जाते हैं।

"रूपादिरसमलान्त उभयोः"॥२८॥

रूपादि से लेकर मल-त्याग तक क्रमशः ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों के विषय हैं।

ज्ञानेन्द्रियों के विषय—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द हैं। कर्मेंद्रियों के विषय—बोलना, देना, चलना, मैथुन और और मलत्याग हैं। ये दोनों प्रकार की इन्द्रियों के विषय हैं।

"द्रष्टृत्वादिरात्मनः करणत्वमिन्द्रियाणाम्"॥२९॥

(द्रष्टृत्वादिः) द्रष्टा होना आदि (आत्मनः) आत्मा का (करणत्वम्) साधन होना (उसद्रष्टा होने में)। (इन्द्रियाणाम्) इन्द्रियों का है।

आत्मा द्रष्टा है और इन्द्रियां उसके साधन हैं।

"त्रयाणां स्वालक्षण्यम्"॥३०॥

(त्रयाणाम्) तीनों का (स्वालक्षण्यम्) अपना २ लक्षण है ।

मन बुद्धि और अहंकार इन तीनों के अपने २ धर्म हैं; जैसे-मन का धर्म संकल्प-विकल्प करना है; बुद्धि का धर्म निश्चय करना है और अहंकार का धर्म अभिमान करना है ।

"सामान्या करणवृत्तिः प्राणाद्या वायवःपञ्च"॥३१॥

(प्राणाद्या वायवः पञ्च) प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान ये पांच प्राण (सामान्याकरणवृत्तिः) अन्तः करण के साधारण करण हैं ।

प्राणवायु=हृदय में गति करता है

अपानवायु=गुदा में ,, ,,

समानवायु=नाभि में ,, ,,

उदानवायु=कण्ठ में ,, ,,

व्यानवायु=सब शरीर में गति करता है ।

"क्रमशोऽक्रमशश्चेन्द्रियवृत्तिः"॥३२॥

(इन्द्रियवृत्तिः) इन्द्रियों का व्यापार (क्रमशोऽक्रमशश्च) क्रम से भी होता है और विना क्रम के भी होता है ।

इन्द्रियों का व्यापार क्रम से तथा विना क्रम से दोनों प्रकार से होता है। जब मैं किसी व्याख्याता का व्याख्यान सुनता हूं तब मैं उसे देखता भी हूँ। अर्थात देखना और सुनना एक ही समय में हो रहा है, यहां दो इन्द्रियां एक ही समय में कार्य कर रही हैं। परन्तु नैय्यायिक मानते हैं कि एक समय में केवल एक ही इन्द्रिय का ज्ञान होता है ।

"वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाऽक्लिष्टाः"॥३३॥

मन की वृत्तियां पांच प्रकार की हैं। इनसे ही दुःख सुख पैदा होते हैं।

पांच वृत्तियां=प्रमाण, विपर्य्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति।

प्रमाण=प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द।

विपर्य्यय=उलटा ज्ञान।

विकल्प=सन्देहात्मक ज्ञान।

निद्रा=नींद।

स्मृति=पुरानी बातें याद करना।

"तन्निवृत्तावुपशान्तोपरागः स्वस्थः"॥३४॥

(तन्निवृत्तौ) उनके निवृत्त होने में (उपशान्तोपरागः) विषयों के राग से रहित होकर (स्वस्थः) मनुष्य स्वस्थ अर्थात् कैवल्यानन्द को प्राप्त करता है।

"कुसुमवच्च मणिः"॥३५॥

कुसुम के समान जैसे मणि।

जैसे काले पीले फूलों की परछांई से स्फटिकमणि भी काली पीली दिखलाई देती है। जब वे फूल हटा लिये जाते हैं तब वह अपने शुद्ध स्वरूप को दिखलाती है। ठीक इसी प्रकार जब मन की वृत्तियां सब शान्त हो जाती हैं तब आत्मा अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। योगदर्शन में भी यही लिखा है—

"तदाद्रष्टुः स्वरूपे अवस्थानम्"

वृत्तियों के शान्त हो जाने पर द्रष्टा अपने स्वरूप में स्थित

हो जाता है।

"पुरुषार्थंकरणोद्भवोऽप्यदृष्टोल्लासात्" ॥३६॥

(पुरुषार्थम्) पुरुष के लिये (करणोद्भवोऽपि) करण का उत्पन्न होना भी (अदृष्टोल्लासात्) अदृष्ट के प्रगट होने से।

जिस प्रकार प्रकृत्ति की प्रवृत्ति अदृष्ट कर्मों के प्रगट होने से होती है और वर्णन नहीं की जा सकती। इसी प्रकार पुरुष के लिये इन्द्रियों की प्रवृत्ति अदृष्ट कर्मों के प्रगट होने से होती है।

"धेनुवद्वत्साय" ॥ ३७ ॥

(धेनुवत्) गाय की तरह (वत्साय) बछड़े के लिये।

जैसे गाय बछड़े के लिये अपने आप दूध देती है, दूसरे की कुछ भी जरूरत नहीं रखती। इसी प्रकार अपने स्वामी के लिये इन्द्रियों की प्रवृत्ति स्वयं होती है।

"करणंत्रयोदशविधमवान्तरभेदात्" ॥३८॥

(अवान्तरभेदात्) बाह्याभ्यन्तर भेद से-भिन्न कार्य भेद से (कारणम्) इन्द्रियां (त्रयोदशविधम्) तेरह प्रकार की हैं।

मन, बुद्धि और अहंकार; पांच ज्ञानेन्द्रियां और पांच कर्मेन्द्रियां, इस प्रकार तेरह भेद हुए।

"इन्द्रियेषु साधकतमत्वगुणयोगात् कुठारवत्" ॥३९॥

(इन्द्रियेषु) इन्द्रियों में (साधकतमत्वगुणयोगात्) अति-साधक होने के गुण के योग से (कुठारवत्) कुल्हाड़े की तरह।

जिस प्रकार वृक्ष के काटने में कुल्हाड़ा मुख्य साधन है,

इसी प्रकार इन्द्रियों में मन तथा बुद्धि मुख्य करण अथवा साधन हैं।

"द्वयोः प्रधानं मनो लोकवद्भृत्यवर्गेषु" ॥ ४० ॥

(द्वयोः प्रधानं मनः) दोनों में से प्रधान मन है (लोकवत्) लोक के समान (भृत्यवर्गेषु) नौकरों के समूह में।

जिस प्रकार राजा के कई नौकर होते हैं, उनमें वजीर सब से मुख्य समझा जाता है, इसी प्रकार सब इन्द्रियों (बाह्य तथा आभ्यन्तर) में मन अथवा बुद्धि प्रधान हैं।

"अव्यभिचारात्" ॥ ४१ ॥

व्यभिचार न होने से।

प्रत्येक इन्द्रिय अपने २ विषय को ग्रहण करने में समर्थ हैं। बुद्धि अथवा मन सब इन्द्रियों के विषयों को ग्रहण करने में समर्थ हैं।

"तथाऽशेषसंस्काराधारत्वात्" ॥ ४२ ॥

समस्त संस्कारों के आधार होने से, मन अथवा बुद्धि मुख्य कारण हैं।

प्रत्येक इन्द्रिय की क्रियाओं के संस्कार मन तथा बुद्धि में स्थित हैं, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं। इसलिये उन्हें मुख्यता दी जाती है।

"स्मृत्यनुमानाच्च" ॥ ४३ ॥

स्मृतिद्वारा अनुमान से भी।

बुद्धि अथवा मन के अन्दर जो अनुमान करने की विलक्षण शक्ति है, जो किसी और इन्द्रिय में नहीं; उससे भी यही सिद्ध होता है कि बुद्धि तथा मन की इन्द्रियों में प्रधानता है।

"सम्भवेन्न स्वतः" ॥ ४४ ॥

अपने आप से सम्भव नहीं।

यदि यह कहा जाय कि स्मृति जीवात्मा में स्वाभाविक है, तो यह ठीक नहीं है; क्योंकि जीवात्मा केवल साक्षी रूप होकर देखने वाला है। और बुद्धि के जैसे संस्कार सामने आवेंगे, वैसे ही जीवात्मा को प्रतीत होंगे इसलिये जीवात्मा में स्मृति नहीं, प्रत्युत बुद्धि का यह गुण है।

"आपेक्षिको गुणप्रधानभावः क्रियाविशेषात्" ॥४५॥

क्रिया विशेष से इन्द्रियां एक दूसरे की अपेक्षा गौण या मुख्य हैं।

एक दूसरे की अपेक्षा अपनी २ क्रिया विशेष से उत्तरोत्तर इन्द्रियां प्रधान हैं; यथा बाह्य इन्द्रियों के व्यापार में मन, मन के व्यापार में अहंकार और अहंकार के व्यापार में बुद्धि प्रधान है।

"तत्कर्मार्जितत्वात्तदर्थमपि चेष्टालोकवत्" ॥४६॥

(तत्कर्मार्जितत्वात्) उसके कर्म के संचित होने से (लोकवत्) लोक के समान (तदर्थमपि) उसके लिये भी (चेष्टा) चेष्टा होती है।

जैसे संसार में धन देकर यदि कोई वस्तु खरीद ली जाय, तब वह वस्तु उस मनुष्य के उपयोग के लिये समझी जाती है

इसी प्रकार हमारी इन्द्रियां जो अदृष्ट के करने से हमें प्राप्त हुई हैं, वे उस पुरुष के लिये स्वतः काम करने में प्रवृत्त होती हैं।

"समानकर्मयोगे बुद्धेः प्राधान्यं लोकवल्लोकवत्" ॥४७॥

(समानकर्मयोगे) समान कर्म योग में (बुद्धेः प्राधान्यम्) बुद्धि का दर्जा सबसे ऊंचा है (लोकवत्) लोक के समान।

जिस प्रकार राजा के कई भृत्य हैं, वजीर भी उसका भृत्य है; परन्तु वह दूसरे सब भृत्यों की अपेक्षा सबसे ऊंचा दर्जा रखता है। इसलिये उसका मान भी अधिक है। इसी प्रकार मनुष्य में कई इन्द्रियां हैं, परन्तु उन सब इन्द्रियों में बुद्धि का दर्जा सबसे ऊंचा है, इसलिये उसका मान भी सब इन्द्रियों की अपेक्षा अधिक है। दो बार लोकवत् कहने का तात्पर्य अध्याय की समाप्ति को प्रगट करता है।

❀ ओ३म् ❀

तृतीय-अध्याय

तीसरे अध्याय में भी प्रकृति के जो स्थूल कार्य और महाभूत आदि हैं, उनका विस्तार किया गया है; और दूसरा इस सृष्टि का प्रयोजन क्या है–इसे स्पष्ट किया गया है।

प्रकृति के स्थूल कार्य–पञ्चमहाभूत (अग्नि, जल, वायु, तेज और आकाश) हैं। इन पञ्चमहाभूतों का प्रतिनिधि रूप यह हमारा स्थूल शरीर है। स्थूल शरीर का तात्विक लक्षण यह है कि जिसका जाग्रतावस्था में भान हो। इस स्थूल शरीर के अन्दर एक और शरीर है, जिसे लिंग-शरीर अथवा सूक्ष्म शरीर कहते हैं। मन, अहंकार और इन्द्रियां जिसके द्वारा अपना २ काम करती हैं, उसे लिंग-शरीर कहते हैं। इसी प्रकार एक और शरीर है, जिसे कारण–शरीर कहते हैं। उसे कारण–शरीर इसलिये कहते हैं कि वह लिंग–शरीर का कारण है।

यह संसार हमें स्पष्ट–रूप से दिखाई देता है। उसका व्यष्टि–रूप ये हमारे तीन शरीर हैं। २२ तत्त्वों से इस संसार की उत्पत्ति समझी जाती है इसी प्रकार वे ही २२ तत्त्व हमारे तीन प्रकार के शरीरों में कारण हो रहे हैं

इस संसार की प्रवृत्ति तभी तक है, जब तक अविवेक है। विवेक होते ही इस संसार की प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है। इसी प्रकार शरीरों में प्रवृत्ति तथा सम्मोह भी तभी तक है,

जब तक अविवेक है विवेक होते ही शरीर रूपी संसार से लालसा हट जावेगी।

अब भगवान् कपिल मुनि आगे चलकर उपरोक्त स्थूल शरीर तथा सूक्ष्म शरीर के धर्मों की व्याख्या करते हैं। वे कहते हैं कि स्थूल शरीर दो तरह के हैं-एक वह जो माता पिता के मेल से पैदा होता है; दूसरा वह जो विना माता पिता के संगम से पैदा होता है, जैसे वर्षाऋतु में वीरबहुटी। लिंग शरीर के द्वारा ही मनुष्य को सुख-दुःख का भान होता है। यदि स्थूल शरीर के द्वारा इनका भान होता तो मृत शरीर में भी सुख-दुःख का भान होना आवश्यक था; परन्तु ऐसा कोई नहीं देखता। उस सूक्ष्म शरीर का स्वरूप निम्न है—

"सप्तदशैकं लिङ्गम्"

पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, मन, अहंकार और पञ्च-तन्मात्राएं (शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श)-इन सब के मेल का नाम ही सूक्ष्म शरीर है। इन्हीं की उपाधि से मनुष्य सुखी तथा दुःखी होते हैं।

अब प्रश्न यह है कि जब वस्तुतः सब कुछ ही सूक्ष्म शरीर है, तो स्थूल शरीर को शरीर कहना अनुचित है। कपिल मुनि इसका समाधान करते हैं कि स्थूल शरीर को शरीर इसलिये कहा है; क्योंकि वह सूक्ष्म शरीर का आश्रय है। विना आश्रय के सूक्ष्म शरीर रह नहीं सकता।

"न स्वातन्त्र्यात् तद्दते छायावच्चित्रवत्"

जैसे तसवीर विना आधार के नहीं खिंच सकती; इसी प्रकार सूक्ष्म-शरीर भी स्थूल-शरीर के विना नहीं ठहर सकता। जैसे बहुत से तेज इक्ट्ठे विना पार्थिव द्रव्य के आधार के नहीं रह सकते; इसी प्रकार सूक्ष्म-शरीर मूल होता हुआ भी विना किसी स्थूल शरीर के नहीं रह सकता।

तब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि उस लिङ्ग शरीर का परिमाण कितना है ? कपिल मुनि उत्तर देते हैं कि सूक्ष्म शरीर अणुपरिमाण वाला है, और अवयव वाला है। सूत्र में जैसा कहा है—

"अणु परिमाणं तत्कृतिश्रुतेः"

स्थूल शरीर के विषय में बहुत मतभेद हैं। कई तत्त्ववेत्ता इस शरीर को पाञ्चभौतिक समझते हैं; कई विद्वान इस शरीर को चार भूतों वाला समझते हैं—आकाश को उन भूतों से अलग कर दिया है और कई महानुभाव केवल पार्थिवतत्त्व से बना हुआ इस स्थूल शरीर को समझते हैं।

स्थूल शरीर स्वभाव से चैतन्य नहीं है; किन्तु किसी दूसरे चैतन्य के मेल से चैतन्य शक्ति को धारण करता है। यदि शरीर चेतन है तो मृत्यु के बाद इसकी चेतनता कहां चली जाती है। जिन पञ्चमहाभूतों से इस शरीर की उत्पत्ति मानी है; यदि इन सब भूतों को अलग २ करके देखा जाय, तब भी पता लगता है कि वह चेतनता नहीं रखता है। जैसे पृथ्वी, जल, आकाश वायु और तेज ये पांच भूत हैं। इनमें से कोई चेतन नहीं है।

तो इनसे बना हुआ शरीर कैसे चेतन हो सकता है? यदि यह कहा जाय कि जैसे अनेक पदार्थों के मेल से मादकता शक्ति पैदा हो जाती है; इसी प्रकार इन पञ्चमहाभूतों के मिलने से चेतनता शक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है। तो यह उपमा अशुद्ध है। क्योंकि जिन पदार्थों के मेल से मादकता की शक्ति उत्पन्न होती है; उन सब पदार्थों में भी कुछ न कुछ मादकता शक्ति होती है; वे उस शक्ति से सर्वथा रहित नहीं होते। परन्तु शरीर जिन तत्त्वों से बना है, उनमें से तो किसी में भी लेश मात्र भी चेतनता नहीं है। इसलिये शरीर को चेतन कैसे कहा जाय। इसलिये शरीर अचेतन ही है और सूक्ष्म शरीर के रहने का एक स्थान मात्र है।

ये स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर केवल मनुष्य के पुरुषार्थ के सहायक हैं। जब पुरुषार्थ सिद्ध हो जाता है, तब इनका कोई प्रयोजन शेष नहीं रहता। इन शरीरों के सम्यक् ज्ञान से ही मुक्ति होती है, और इनके मिथ्या ज्ञान से बन्ध और दुःख होता है। केवल विवेक ही साधन है, जिससे दुःखों की निवृत्ति हो सकती है।

कई महानुभाव यह समझते हैं कि कर्म भी मुक्ति दिला सकते हैं। कपिल मुनि समझते हैं कि केवल कर्म मुक्ति नहीं दिला सकते। शुभ कर्मों से मृत्यु का भय जाता रहता है और ज्ञान से मोक्ष मिलता है। वेद में भी यही उपदेश है—

"अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते"

कर्म से मृत्यु को तैर कर विद्या अर्थात ज्ञान से मोक्ष मिलता है वह ज्ञान जिससे मुक्ति होती है—"ज्ञानान्मुक्तिः"— वह ज्ञान किस प्रकार का हो। कपिल मुनि उसे बतलाते हैं।

"रागोपहतिर्ध्यानम्"

रजोगुण के कार्य जो विषय वासनादि हैं; उनका नाश करने के लिये जो प्रयत्न है; उसे ध्यान कहते हैं। इसी ध्यान के परिपक्व होने से मनुष्य को अपना ज्ञान होता है।

"वृत्तिनिरोधात्तत्सिद्धिः"

सब प्रकार की वृत्तियों को रोकने से ही ज्ञान परिपक्व होता है। प्राणायाम द्वारा उन वृत्तियों को रोका जा सकता है। दूसरा तरीका यह है कि जो शास्त्रों ने अपने २ आश्रमों के लिये कर्म प्रतिपादित किये हैं, उनका निष्काम भाव से अनुष्ठान करने से भी कुत्सित वृत्तियों का निरोध होता है। सामान्यतया सब आश्रम-वासियों के लिये यम और नियमों का पालन ही मुख्य है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना) ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये यम हैं। अन्दर और बाहर से सफाई, सन्तुष्ट रहना, तप, स्वाध्याय और ईश्वरार्पण होकर कार्य करना-ये नियम हैं। इन का यथावत् अभ्यास कर विरोधी विचारों को अपने से परे हटाना ही सच्चा वैराग्य है।

पांच प्रकार के मिथ्या ज्ञान हैं। उनके नाम ये हैं—अविद्या अस्मिता, राग, द्वेष और मृत्यु का भय। इन पांच प्रकार के मिथ्या ज्ञानों का नाश भी यथार्थ बोध कराने में सहायक है।

कपिल मुनि फिर एक और तरीका बतलाते हैं। वह यह है कि २८ प्रकार की जो अशक्तियां हैं, उनका नाश किया जाय। वे अशक्तियां निम्न हैं—

पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां और ११वां मन इनकी शक्तियों के विघात हो जाने से, जो त्रुटि उत्पन्न होती है उसे अशक्ति कहते हैं इसके अतिरिक्त ६ प्रकार की तुष्टि हैं और ८ प्रकार की ऊह सिद्धियां हैं। इनसे बुद्धि का प्रतिकूल होना भी अशक्तियों का बोधक है। तुष्टियां क्या हैं? और सिद्धियां क्या हैं? सूत्रों में इनकी सम्यक्तया व्याख्या करदी गई है।

इस प्रकार जो मनुष्य उपरोक्त विधियों में से किसी एक विधि का भी अवलम्बन करता है, वह महापुरुष है और उसे ज्ञान उपलब्ध हो जाता है। व्यष्टि रूप से अपने शरीर को लक्ष्य रख कर प्रकृति के ज्ञान का उपदेश अब तक दिया गया है। अब समष्टि रूप से प्रकृति के कार्य जो सृष्टि आदि हैं, उसको लक्ष्य में रख कर ज्ञान कैसे उपलब्ध होता है। शास्त्रकार उनका विधान करते हैं।

"आब्रह्मस्तम्भपर्यन्तं तत्कृते सृष्टिराविवेकात्"

ब्राह्मण से लेकर स्थावरादि तक जितनी सृष्टि है, वह सब पुरुष के वास्ते है, और उसके लिये भी विवेक होने तक ही सृष्टि रहती है। उस सृष्टि के तीन भाग हैं—

सतोगुण सृष्टि—जिनमें महात्माओं और देवताओं का वास है।

तमोगुण सृष्टि—पशु, पक्षी, कीड़े आदि योनियां।

रजोगुण सृष्टि—सामान्य मानुषी सृष्टि।

अब प्रश्न यह है कि प्रकृति तो एक है, उससे अनेक प्रकार की सृष्टि कैसे उत्पन्न हो गई। भगवान् कपिल उत्तर देते हैं।

"कर्मवैचित्र्यात्"

यह सब प्रकृति की चेष्टा कर्मों की विचित्रता से होती है मनुष्य जैसा कर्म करेगा, उसकी सृष्टि भी वैसा ही कर्म करेगी—इसमें कोई सन्देह नहीं।

एक और प्रश्न होता है कि प्रकृति और पुरुष दोनों अनादि हैं, तो प्रकृति द्वारा सृष्टि कर्त्तृत्व क्यों माना गया है? भगवान् कपिल जवाब देते हैं—यह ठीक है कि प्रकृति और पुरुष अनादि और नित्य हैं। परन्तु कार्य वह करेगा जो परवश होगा और प्रकृति परवश है इसलिये उसके लिये आवश्यक है कि वह सृष्टि करे।

फिर प्रश्न होता है कि प्रकृति ने सृष्टि को क्यों पैदा किया? कपिल मुनि उत्तर देते हैं।

"प्रधानसृष्टिः परार्थं स्वतोऽप्यभोक्तृत्वादुष्ट्रकुंकुमवहनवत्"

प्रधान (प्रकृति) की जो सृष्टि है, वह दूसरे के लिये है; क्योंकि प्रकृति स्वयं भोग नहीं कर सकती, इसलिये इसका भोक्ता कोई दूसरा है। जिस प्रकार ऊंट दूसरों के लिये केसर को लाद कर ले जाता है, परन्तु उस ऊंट का उस केसर से

कोई सम्बन्ध नहीं; इसी प्रकार प्रकृति सृष्टि भी दूसरे के लिये है। प्रकृति अचेतन होती हुई भी दूसरे के लिये है; जैसे दूध जड़ है, लेकिन उसकी प्रवृत्ति चैतन्य बछड़े आदि के लिये है। जिस प्रकार खेत में बीज बोया हुआ ऋतु के समय दूसरों के उपकारार्थ फल देता है; इसी प्रकार प्रकृति की सृष्टि भी दूसरों के लिये है। जब मनुष्य को अपना बोध हो जाता है, तब प्रकृति की सृष्टि भी निवृत्त हो जाती है। जैसे रसोइया रोटी बनाकर निवृत्त हो जाता है, फिर उसे कुछ काम नहीं रहता; इसी प्रकार प्रकृति भी मनुष्य के अन्दर विवेक पैदा करके सृष्टि को निवृत्त कर देती है। पुरुष को बन्ध और मोक्ष स्वाभाविक नहीं; किन्तु अविवेक से ही होते हैं। जब तक प्रकृति का उपराग मनुष्य को रहता है, तब तक बन्ध है। उपराग का हटना ही मोक्ष है। जैसे पशु रस्सी के संयोग से बंध जाता है और जब उसका संयोग छूट जाता है, तब मुक्त हो जाता है, इसी प्रकार मनुष्य को भी समझा जाय।

अब प्रश्न यह है कि प्रकृति किन तरीकों से बन्धन करती है और कैसे मुक्त करती है? धर्म, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य–इन सात रूपों से प्रकृति पुरुष का बन्धन करती है। विवेक ज्ञान द्वारा बन्धनों से छूट जाता है, और मुक्त हो जाता है। धर्म, वैराग्य आदिकों को बन्धन कहा गया है। इसका यह मतलब है कि अच्छी से अच्छी वस्तु में भी जो सम्मोह है वह भी बन्धन का हेतु होता है।

अब प्रश्न यह है कि विवेक ज्ञान कैसे पैदा हो? कपिल-मुनि एक निश्चित उत्तर देते हैं कि विवेक ज्ञान पैदा होगा त्याग और तत्त्वाभ्यास से। तत्त्वाभ्यास का तात्पर्य याज्ञवल्क्य की नेति-नेति का अभ्यास है—देह आत्मा नहीं है, पुत्र आत्मा नहीं है, इन्द्रियां आत्मा नहीं है तथा मन आत्मा नहीं है।

"आदेशो नेतिनेतीतित्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः"

जब विवेक हो जाता है, तब इस शरीर की मौजूदगी में भी मुक्त हो सकता है। उसको ही जीवन्मुक्त कहते हैं।

जब गुरु के पास जाकर श्रद्धा पूर्वक उपदेश ग्रहण करेगा, तब जीव उसके अनुसार कर्म करेगा। उस समय जीवन्मुक्त होना कोई कठिन नहीं। विना गुरु के उपदेश के जीवन्मुक्त कोई नहीं हो सकता।

"उपदेश्योपदेष्टृत्वात् तत्सिद्धिः"

जीवन्मुक्त का अर्थ है—शरीर के होते हुए मुक्ति। शरीर तो कर्मों का फल है। मुक्ति अवस्था में कर्म सब क्षीण हो जाते हैं। तब मनुष्य शरीर रखता हुआ मुक्त कैसे हो सकता है? यह प्रश्न है, जिसका उत्तर कपिल मुनि देते हैं।

"चक्रभ्रमणवद् धृतशरीरः"

जैसे कुम्हार का चाक बर्तन के बन जाने के बाद भी घूमता रहता है; इसी प्रकार विवेकज्ञान होने पर भी प्रारब्ध कर्मों के वेग से शरीर को धारण किये हुए मनुष्य जीवन्मुक्त होता है।

फिर प्रश्न होता है कि जीवन्मुक्त पुरुष के रागादि सब नष्ट हो चुके हैं, तब वह उपभोग किसके सहारे से करता है। कपिल मुनि कहते हैं कि रागादिकों के संस्कार का लेश रह जाता है, उसी के सहारे से उपभोग करता है। वास्तविक रागादि जीवन्मुक्त में नहीं रहते।

अन्त में कपिल मुनि अपने सिद्धान्त को पुनः दोहराते हैं कि विवेक ही एक उपाय है, जिससे सब दुःख दूर होंगे और मुक्ति होगी। निम्न सूत्र में इसे स्पष्ट किया गया है—

"विवेकान्निःशेषदुःखनिवृत्तौ कृतकृत्यता नेतरान्नेतरात्"।

❀ ओ३म् ❀

तृतीय-अध्याय

"अविशेषाद्विशेषारम्भः" ॥१॥

(अविशेषात्) अविशेष से पञ्च तन्मात्राओं से—शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श से (विशेषारम्भः) विशेष का प्रारम्भ होता है, अर्थात् पृथ्वी, जल, वायु, आकाश और तेज की उत्पत्ति होती है।

"तस्माच्छरीरस्य" ॥२॥

(तस्मात्) उससे (शरीरस्य) शरीर की उत्पत्ति होती है।

उपरोक्त स्थूल-सूक्ष्म भूतों से शरीर बनता है।

"तद्बीजात् संसृतिः" ॥३॥

उसके बीज से संसार बनता है।

उपरोक्त स्थूल तथा सूक्ष्म तत्त्वों से ही यह संसार बना है। या सूक्ष्म शरीर से ही मनुष्य का गमनागमन होता है।

"आविवेकाच्च प्रवर्त्तनमविशेषाणाम्" ॥४॥

(अविशेषाणाम्) पञ्चतन्मात्राओं तथा उनसे स्थूल भूतों की (प्रवर्तनम्) प्रवृत्ति (आविवेकात्) विवेक के होने तक।

संसार की प्रवृत्ति तभी तक है, जब तक विवेक नहीं होता।

"उपभोगादितरस्य" ॥५॥

(इतरस्य) इतर के-अविवेकी के (उपभोगात्) उपभोग से।

अज्ञानी के लिये संसार हमेशा बना रहता है।

"संसृतिपरिमुक्तो द्वाभ्याम्" ॥६॥

जब तक संसार बना है, तब तक मनुष्य को कुछ न कुछ सुख दुःख रहेगा ही।

"मातापितृजं स्थूलं प्रायश इतरन्न तथा" ॥७॥

(प्रायशः) बाहुल्य से—अक्सर (स्थूलम्) स्थूल शरीर आदि (माता-पितृजम्) माता पिता से उत्पन्न होता है (इतरत्) अर्थात सूक्ष्म शरीर (न) नहीं (तथा) वैसे।

स्थूल-शरीर की उत्पत्ति माता-पिता से होती है। "प्रायशः" शब्द इसलिये प्रयुक्त किया है, क्योंकि वर्षा-ऋतु में कई कीड़े विना माता-पिता के संयोग के ही पैदा हो जाते हैं। सूक्ष्म शरीर माता-पिता के संयोग से नहीं बनता।

"पूर्वोत्पत्तेस्तत्कार्यत्वं भोगादेकस्य नेतरस्य" ॥८॥

(एकस्य पूर्वोत्पत्तेः) सृष्टि के आदि में केवल सूक्ष्म शरीर को (भोगात्) भोग होने से (तत्कार्यत्वम्) सुख दुःख का कार्य होता है (न इतरस्य) इतर को नहीं

प्रश्न यह है कि सुख-दुःख स्थूल शरीर को होते हैं या सूक्ष्म शरीर को। इसका उत्तर इस सूत्र में दिया जाता है—

सुख-दुःख का अनुभव तथा भोग सूक्ष्म शरीर को होता है इस सूक्ष्म शरीर के उपाधि से ही मनुष्य को सुख-दुःख होते हैं। स्थूल-शरीर की उपाधि से मनुष्य को सुख-दुःख का भोग नहीं है; क्योंकि जब यह मनुष्य

मर जाता है, तब स्थूल-शरीर का ढांचा तो वैसा ही रहता है, परन्तु उसमें सुख- दुःख नहीं भासता।

प्रश्न—सूक्ष्म शरीर का स्वरूप क्या है ?

"सप्तदशैकं लिङ्गम्" ॥ ९ ॥

सूक्ष्म शरीर में १७ चीजें हैं।

पाँच ज्ञानेन्द्रियां—आंख, नाक कान, रसना और त्वचा।

पाँच कर्मेन्द्रियां—वाक्, हाथ, पांव, गुदा, और उपस्थ।

एक मन। एक बुद्धि।

पांच तन्मात्राएं—शब्द, रस रूप, गन्ध और स्पर्श।

"व्यक्तिभेदः कर्मविशेषात्" ॥१०॥

(कर्मविशेषात्) कर्म विशेष से (व्यक्तिभेदः) भिन्न योनियों का भेद है।

अपने २ कर्मानुसार शरीरों में भेद प्रतीत होता है, किसी का पुरुष का शरीर है, तो किसी का स्त्री का।

प्रश्न—जितने भोग हैं, वे सब सूक्ष्म शरीर द्वारा ही भोगे जाते हैं। फिर स्थूल शरीर का क्या प्रयोजन है ? इसकी विशेष आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। इसका उत्तर निम्न सूत्र में दिया गया है।

"तदधिष्ठानाश्रये देहे तद्वादात्तद्वादः" ॥११॥

लिङ्ग शरीर के रहने का आश्रय स्थूल शरीर है। इसी कारण स्थूल शरीर की भी आवश्यकता है।

दूसरा अर्थ इसका यह है कि यदि आत्मा भिन्न है, तो देह

में अभिमान का भाव किस प्रकार से उत्पन्न होता है। उसका उत्तर निम्न सूत्र में दिया गया है। क्योंकि आत्मा के रहने का स्थान तथा आश्रय देह है, इसलिए चेतन शक्ति के सम्पर्क से देह में अहम्भाव अथवा अभिमान पैदा हो जाता है।

"न स्वातन्त्र्यात्तदृते छायावच्चित्रवच्च" ॥१२॥

(छायावत्) छाया की तरह (चित्रवत) चित्र की तरह (तदृते) उसके विना (न स्वातन्त्र्यात्) स्वतन्त्र न होने से।

यदि आत्मा के विना देह में अहम्भाव पैदा हो जाता है, तो मृत देह में भी अहम्भाव रहना चाहिये। परन्तु ऐसा कहीं देखा नहीं जाता। इसलिये जिस प्रकार छाया किसी आश्रय के विना नहीं हो सकती, या चित्र, विना दीवार के लटकाया नहीं जा सकता; इसी प्रकार आत्मा में विना देह के अभिमान उत्पन्न नहीं हो सकता।

द्वितीय अर्थ—सूक्ष्म शरीर विना स्थूल शरीर के स्वतन्त्रता से नहीं रह सकता। जिस प्रकार छाया विना आश्रय के नहीं रह सकती, या चित्र विना दीवार के नहीं लटकाया जा सकता; इसी प्रकार सूक्ष्म शरीर विना स्थूल शरीर के नहीं रह सकता।

"मूर्तत्वेऽपि न सङ्घातयोगात्तरणिवत्" ॥१३॥

(मूर्तत्वेऽपि) सूक्ष्म शरीर आकृति वाला होता हुआ भी (न) नहीं रह सकता (सङ्घातयोगात्) सङ्घ के योग से (तरणिवत्) सूर्य के समान।

सूक्ष्म शरीर मूर्त वाला होता हुआ भी विना आश्रय के नहीं

रह सकता; जिस प्रकार सूर्य की किरणें बिना किसी पार्थिव द्रव्य के आश्रय, नहीं रह सकतीं।

"अणुपरिमाणं तत्कृतिश्रुतेः" ॥१४॥

(अणुपरिमाणम्) वह सूक्ष्म शरीर अणुपरिमाण वाला है (तत्कृतिश्रुतेः) क्रिया वर्णन करने में जो श्रुति है, वह ऐसा बतलाती है।

वह सूक्ष्म शरीर अणुपरिमाण वाला है, ऐसा श्रुति से पता चलता है।

"तदन्नमयत्वश्रुतेश्च" ॥१५॥

वह सूक्ष्म शरीर अन्नमय है, ऐसा श्रुति से पता लगता है।
"ह्यन्नमयं हि सौम्यमनः। आपोमयप्राणस्तेजोमयवाक्"

"पुरुषार्थं संसृतिलिङ्गानां सूपकारवद्राज्ञः" ॥१६॥

(लिङ्गानाम्) सूक्ष्म शरीर की (संसृतिः) पैदाईश (पुरुषार्थम्) पुरुष के भोग और अपवर्ग के लिये है (सूपकारवत्) रसोइये की तरह।

सूक्ष्म शरीर की पैदाइश पुरुष के भोग और अपवर्ग के लिये है। जिस प्रकार पाकशाला में रसोइया अपने स्वामी के लिये काम करता है, इसी प्रकार यह सूक्ष्म शरीर मनुष्य के भोग और अपवर्ग के लिये है।

स्थूल शरीर का वर्णन आगे किया जायगा।

"पाञ्चभौतिको देहः" ॥१७॥

हमारा स्थूल शरीर पांच भूतों से अर्थात् पृथ्वी, जल, वायु, आकाश और तेज से बना हुआ है।

"चातुर्भौतिकमित्येके" ॥१८॥

कई इसे चार भूतों से बना हुआ समझते हैं। आकाश की भूतों में गणना नहीं करते।

"ऐकभौतिकमित्यपरे" ॥१९॥

कई स्थूल शरीर को एक ही भूत (पृथ्वी) से बना हुआ मानते हैं।

"न सांसिद्धिकं चैतन्यं प्रत्येकादृष्टः" ॥२०॥

(प्रत्येकादृष्टेः) पृथक् भूतों में न देखे जाने से (सांसिद्धिकं चैतन्यं न) स्वाभाविक चेतनता नहीं है।

जब पृथ्वी आदि भूतों को अलहदा २ करते हैं, तब उनमें चेतन शक्ति नहीं दीखती। अतः इससे सिद्ध होता है कि देह स्वभाव से चेतनता नहीं रखता, किसी दूसरे चैतन्य के मेल से चैतन्य शक्ति को धारण करता है।

"प्रपञ्चमरणाद्यभावश्च" २१॥

यदि स्थूल शरीर को स्वाभाविक चेतन समझ लिया जावे तो मरने के समय उसकी चेतनता कहां चली जाती है?

"मदशक्तिवच्चेत्प्रत्येकपरिदृष्टे सांहत्ये तदुद्भवः ॥२२॥

(मदशक्तिवत्) मदिरा-शक्ति की तरह (चेत) यदि समझा जाय (प्रत्येकपरिदृष्टेः) प्रत्येक परिदृष्ट होने पर (सांहत्ये) मिले हुए में

(तदुद्भव:) उस की उत्पत्ति होती है ।

जैसे, अनेक पदार्थों के मिलने से मादकता शक्ति पैदा हो जाती है; इसी प्रकार इन पांच भूतों के मिलने से शरीर में चेतन-शक्ति पैदा हो जाती है । इस प्रकार यदि माना जाय तो क्या हर्ज है ? इसका उत्तर यह है कि जिन पदार्थों के मिलने से मादकता की शक्ति पैदा हुई है; उन पदार्थों में अंशत: मादकता कुछ न कुछ अवश्य पाई जाती है । परन्तु पञ्चभूतों में तो किसी में भी चेतन-शक्ति पाई नहीं जाती । इसलिए उनसे बने हुये शरीर में यह शक्ति किस प्रकार पैदा हो सकती है ?

स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों का वर्णन हो चुका । अब शास्त्रकार यह बतलाना चाहते हैं कि इन शरीरों का सम्यक् ज्ञान जब तक नहीं होता, तब तक मुक्ति नहीं हो सकती । इसलिये कपिल मुनि निम्न सूत्र में इसे स्पष्ट करते हैं—

"ज्ञानान्मुक्तिः" ॥२३॥

(ज्ञानात्) ज्ञान से (मुक्तिः) मोक्ष होता है ।

इन शरीरों के तत्त्व-ज्ञान से ही मुक्ति हो सकती है ।

"बन्धोविपर्ययात्" ॥२४॥

(विपर्ययात्) उलटे ज्ञान से (बन्धः) बन्धन होता है ।

यदि इनका सम्यक् ज्ञान न हो या विपरीत ज्ञान हो, तो मनुष्य जन्म, मरण, सुख दुःख के बन्धनों में जकड़ा रहता है ।

"नियतकारणत्वान्न समुच्चयविकल्पौ" ॥२५॥

(नियतकारणत्वात्) नियत कारण होने से (तत्त्वज्ञान नियत

कारण है, इसलिये) (न) नहीं है (समुच्चय विकल्पौ) समुच्चय और विकल्प ।

तत्त्वज्ञान का होना ही मुक्ति के लिये नियत कारण है । इस ज्ञान का किसी अन्य साधन के साथ न तो समुच्चय है और न ही विकल्प है ।

"स्वप्नजागराभ्यामिव मायिकाऽमायिकाभ्यां नोभयोर्मुक्तिः पुरुषस्य" ॥२६॥

(मायिकाऽमायिकाभ्याम्) कल्पित और अकल्पित (स्वप्न-जागराभ्याम्) स्वप्न और जाग्रतावस्था की तरह (उभयोः) दोनों में होते हुए एक समय में (पुरुषस्य) पुरुष को (न) नहीं है (मुक्तिः) मुक्ति ।

जिस प्रकार स्वप्न और जाग्रतावस्था सर्वथा आपस में भिन्न हैं, स्वप्नावस्था कल्पित है और जाग्रतावस्था अकल्पित है; इन दोनों का एक ही समय में भान नहीं हो सकता । इसी प्रकार मुक्ति के लिये ज्ञान के अतिरिक्त यदि किसी अन्य साधन का एक ही समय में आश्रय लिया जायेगा, तो उस समय हमारी अवस्था उस मनुष्य की तरह समझी जायेगी, जो जाग भी रहा है और उसी समय स्वप्न भी देख रहा है ।

"इतरस्याऽपि नात्यन्तिकम्" ॥ २७ ॥

(इतरस्याऽपि) किसी और साधन का भी (आत्यन्तिकम्) विशेष फल (न) नहीं है ।

ज्ञान से भिन्न किसी और साधन का विशेष फल भी नहीं है ।

"संकल्पितेऽप्येवम्" ॥ २८ ॥

(संकल्पितेऽपि) संकल्प किए हुए में भी (एवम्) इस प्रकार।

योगी के संकल्प किए हुए पदार्थों का भी कोई विशेष फल नहीं है अर्थात उससे भी मोक्ष नहीं हो सकता।

"भावनोपचयाच्छुद्धस्य सर्वं प्रकृतिवत्" ॥ २९ ॥

(शुद्धस्य) शुद्ध अन्तःकरण वाले पुरुष की (भावनोपचयात्) भावना सिद्ध होने से (सर्वम्) सब (प्रकृतिवत्) प्रकृति के तुल्य है।

जिस शुद्ध अन्तःकरण वाले पुरुष ने वेदोक्त कर्म करके अपने मन को सम्यक्तया मांज दिया है; उस हृदय के अन्दर स्वभावतः सब ज्ञान उत्पन्न हो जाता है।

अब ज्ञान साधन की व्याख्या की जाती है--

"रागोपहतिर्ध्यानम्" ॥ ३० ॥

राग के नाश का हेतु ध्यान है। अर्थात विषय-वासना का नाश केवल ध्यान द्वारा ही हो सकता है। यहां ध्यान शब्द से धारणा, ध्यान और समाधि इन तीनों का ही समावेश समझा जावे।

"वृत्तिनिरोधात् तत्सिद्धिः" ॥ ३१ ॥

(वृत्तिनिरोधात्) वृत्तियों के रोकने से (तत्सिद्धिः) ध्यान की सिद्धि हो सकती है।

वृत्तियों के रोकने से ही मनुष्य ध्यानावस्थित हो सकता है।

"धारणाऽऽसनस्वकर्मणा तत्सिद्धिः" ॥ ३२ ॥

(धारणासनस्वकर्मणा) नाभि आदि में चित्त का धारण करने, सिद्धासनादि करने तथा यम-नियम-प्राणायामादि के पालन करने से (तत्सिद्धिः) ध्यान की सिद्धि होती है।

आसन, यम, नियम, प्राणायाम, प्रत्याहार तथा किसी विशेष स्थान पर धारणा करने से, मनुष्य ध्यानावस्थित हो सकता है।

"निरोधश्छर्दिविधारणाभ्याम्" ॥३३॥

(छर्दिविधारणाभ्याम्) रेचक और पूरक प्राणायाम द्वारा (निरोधः) रोकना (प्राणों का)।

रेचक और पूरक प्राणायाम (deep breathing) से प्राण वश में आता है। प्राण वश में होने से चित्त स्थिर होकर ध्यान में एकाग्र होता है।

"स्थिरसुखमासनम्" ॥३४॥

जिससे स्थिरता पूर्वक तथा सुख पूर्वक ध्यान में बैठ सकें वही आसन है।

"स्वकर्मस्वाश्रमविहितकर्मानुष्ठानम्" ॥३५॥

(स्वाश्रम विहितकर्मानुष्ठानम्) अपने आश्रम में जिन २ कर्मों का विधान है, उन २ कर्मों का पालन करना (स्वकर्म) वही स्वकर्म है।

मनुष्य जिस २ आश्रम में हैं, उस २ आश्रम के अनुसार जो कर्म हैं, उनका यथावत् पालन करना ही स्वकर्म कहलाता है।

"वैराग्यादभ्यासाच्च" ॥३६॥

वैराग्य और अभ्यास से योग सिद्ध होता है, अर्थात् मनुष्य को यथार्थ बोध होता है।

"विपर्ययभेदाः पञ्च" ॥ ३७ ॥

विपर्यय के भेद पांच हैं। वे निम्न प्रकार हैं—

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश।

अविद्या—अनित्य को नित्य समझना, अपवित्र को पवित्र समझना, तथा असत्य को सत्य समझना आदि।

अस्मिता—वृथा अभिमान करना।

राग—सुखों में लम्पटता।

द्वेष—प्रतिकूल वस्तुओं से अनुचित घृणा।

अभिनिवेश—मृत्यु का भय।

"अशक्तिरष्टाविंशतिधा तु" ॥३८॥

अशक्ति २८ प्रकार की हैं।

पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां तथा एक मन; इनका कमजोर हो जाना अर्थात् आंखों से कम दीखना, कान से कम सुनना, रस का जाता रहना, नपुंसक हो जाना तथा मूक हो जाना इत्यादि।

६ तुष्टियां हैं और ८ सिद्धिया हैं; इनका उलटा हो जाना १७ अशक्ति हैं। इनका वर्णन आगे आयगा।

"तुष्टिर्नवधा" ॥ ३९ ॥

तुष्टि ६ प्रकार की हैं।

"सिद्धरष्टधा" ॥ ४० ॥

सिद्धि ८ प्रकार की हैं।

"अवान्तरभेदाः पूर्ववत्" ॥ ४१ ॥

विपर्यय के कई अवान्तर भेद हैं, जो ६२ तक पहुँचते हैं। इनको जिस प्रकार पूर्व आचार्यों ने माना है, उसी प्रकार ही मानना उचित है। वे ६२ निम्न हैं—

अव्यक्त, महत्तत्त्व, अहंकार तथा पञ्चतन्मात्राएं, इन आठों में आत्मबुद्धि रखना अविद्या है। वह अविद्या ८ प्रकार की है—इन्हें तम के भेद कहते हैं।

इन्हीं अव्यक्त, महत्तत्त्व, अहंकार तथा पञ्चतन्मात्राओं में मोह हो जाना, अस्मिता कहलाती है। इसे ८ प्रकार का मोह कहते हैं।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध इन पांचों को दिव्य और अदिव्य भेद से जब ग्रहण किया जाय, तब १० प्रकार का राग हुआ। इसी को १० प्रकार का महामोह कहते हैं।

इस आठ प्रकार की अविद्या, आठ प्रकार की अस्मिता और १० प्रकार का राग में जो द्वेष होता है, उसे १८ प्रकार का तामिस्त्र समझना चाहिये। उन १८ के नाश के भय से १८ प्रकार का अन्ध तामिस्त्र पैदा होता है। इस प्रकार ६२ का विपर्यय है। इन्हें ही अवान्तर भेद के नाम से कहा गया है।

"भेदस्तमसोऽष्टविधो मोहस्य च दशविधो महामोहः।
तामिस्त्रोऽष्टादशधा तथा भवत्यन्धतामिस्त्र इति" ॥

"एवमितरस्याः" ॥ ४२ ॥

(एवम्) इस प्रकार (इतरस्याः) दूसरे का।

इस प्रकार अशक्ति के भेद जानने चाहियें।

"आध्यात्मिकादिभेदान्नवधा तुष्टिः" ॥४३॥

(आध्यात्मिकादिभेदात्) आत्मा को उपलक्ष्य में रख कर जो भेद किये गये हैं, उनसे (नवधा नौ प्रकार की (तुष्टि) तुष्टि है।

वह नौ प्रकार निम्न हैं--

१. प्रकृति--जो कुछ क्रिया हो रही है, वह प्रकृति के द्वारा हो रही है। मैं कूटस्थ हूँ, इसे प्रकृति तुष्टि कहते हैं तथा आरम्भ भी इसे कहते हैं।

२. उपादान—सन्यास लेने से ही मोक्ष होगा, यह उपादान तुष्टि है, इसे "सलिल" भी कहते हैं।

३. काल—बहुत काल तक अनुष्ठानादि करने से ही मुक्ति मिल सकती है, इसे काल तुष्टि कहते हैं तथा "तुष्टिरोध" भी कहते हैं।

४. भाग्य—भाग्य से ही धर्ममेध समाधि मिलेगी, इसे भाग्य तुष्टि अथवा "वृष्टि" कहते हैं।

५. पार—माला चन्दन तथा वनिता आदि के प्राप्त करने में दुःख पैदा होगा, ऐसा सोचकर उनका त्याग देना पारतुष्टि कहलाती है।

६. सुपार—पैदा किये हुए धन को चोर ले जायेंगे या राजा छीन लेगा, ऐसा विचार कर उसका त्याग देना सुपारतुष्टि कहलाती है।

७. पारपार—यह धन बड़ी कठिनाई से प्राप्त किया है, इसे व्यर्थ न खोया जाय, ऐसा विचार कर जो विषयवासना से बचना है, उसे पारपारतुष्टि कहते हैं।

८. अनुत्तमाम्भ—भोग के अभ्यास से कामवृद्धि होती है और विषय प्राप्त न होने से कामी को बड़ा कष्ट होता है, ऐसा विचार कर जो भोगों से बचता है, वह अनुत्तमाम्भ तुष्टि कहलाती है।

९. उत्तमाम्भ—हिंसा वा दोषों के देखने से उपराम हो जाना उत्तमाम्भतुष्टि कहलाती है।

इस प्रकार हमने ९ प्रकार की तुष्टियां कह दी हैं।

ऊहादिभिः सिद्धिः"॥४४॥

ऊह आदि से सिद्धि होती है।

ऊह आदि सिद्धियां ८ प्रकार की हैं—

"ऊहःशब्दोऽध्ययनं दुःखविघातास्त्रयःसुहृत्प्राप्तिः।
दानंच सिद्धयोऽष्टौ सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः" ॥

ऊह, शब्द तथा अध्ययन, तीन प्रकार के दुःखों का नाश, मित्र का मिलना, तथा दान करना, इस प्रकार ८ प्रकार की सिद्धियां होती हैं।

ऊह—पूर्वजन्मों के संस्कारों की बदौलत विना किसी के उपदेश लिये तत्वज्ञान प्राप्त करना ऊह सिद्धि है।

शब्द—दूसरे सुनकर या स्वयं शास्त्र पढ़कर तत्व-ज्ञान

प्राप्त करना शब्द सिद्धि है।

अध्ययन—शिष्य और आचार्य-भाव से जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है, वह अध्ययन सिद्धि है।

सुहृत्प्राप्ति—यदि कोई महात्मा अपने-आप ही उपदेश देने के लिये उपस्थित हो गये हों, उसे सुहृत्प्राप्ति कहते हैं।

दान—धन आदि देकर जो ज्ञान प्राप्त करना है, उसे दान-सिद्धि कहते हैं।

प्रश्न—योगदर्शन के अन्दर अणिमादि ८ सिद्धियां लिखी हैं तथा मन्त्र, तप और समाधि से सिद्धियों का वर्णन है; क्या यह अशुद्ध है? कपिल मुनि इसका उत्तर निम्न सूत्र से देते हैं।

"नेतरादितरहानेन विना" ॥४५॥

(इतरहानेन विना) इतर के हान के विना–(मिथ्याज्ञान के नष्ट हुए विना) (न) नहीं है (इतरात्) इतर से (ऊह आदि सिद्धियों से भिन्न)।

वे अणिमादि सिद्धियां ठीक नहीं हैं, क्योंकि उनके होते हुए भी मिथ्याज्ञान नष्ट नहीं होता है। ऊह आदि जो सिद्धियां हैं, उनमें मिथ्याज्ञान सर्वथा नष्ट हो चुका होता है।

अब व्यष्टि सृष्टि का वर्णन करते हैं।

"दैवादिप्रभेदा"॥४६॥

दैव आदि हैं भेद जिसके ऐसी सृष्टि है।

ब्राह्म, प्रजापति, इन्द्र, पितर, गन्धर्व, विद्वान्, संन्यासी तथा महात्मादि की सृष्टि दैवसृष्टि है। पशु, मृग, पक्षी, सर्प तथा

स्थावर यह तिर्यग्योनि सृष्टि है। मानुष्य एक ही प्रकार की सृष्टि है। ये दैवादि सृष्टि के भेद हैं।

"आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं तत्कृते सृष्टिराविवेकात्"॥४७॥

(आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तम्) ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त (तत्कृते) उसके (पुरुष) के लिये की गई (सृष्टिः) सृष्टि (आविवेकात्) विवेक पर्यन्त है।

जितनी सृष्टि है—स्थावर अथवा जंगम—वह सब विवेक प्राप्त होने तक पुरुष के लिये है। जब विवेक हो जाता है, उस समय इस सृष्टि का प्रयोजन समाप्त हो जाता है।

"ऊर्ध्वं सत्वविशाला"॥४८॥

जिनमें सतोगुण बहुत है, वह दैवी सृष्टि है अर्थात् विद्वान, महात्मा, योगी तथा सन्यासी आदि की सृष्टि दैवी सृष्टि है।

"तमोविशाला मूलतः" ॥४९॥

जिनमें तमोगुण अधिक है, वह पशु आदि की नीच सृष्टि है।

"मध्ये रजो विशाला"॥५०॥

जिनमें रजोगुण बहुत है; वह उपरोक्त दोनों के बीच में मानुषी सृष्टि है। वह न तो देव है और न ही पशु है।

"कर्म वैचित्र्यात्प्रधानचेष्टा गर्भदासवत्" ॥५१॥

(कर्मवैचित्र्यात्) कर्मों की विचित्रता से (प्रधानचेष्टा) प्रकृति की सृष्टि करने की चेष्टा है (गर्भदासवत्) जो गर्भावस्था से ही दास है, उसकी तरह।

अब प्रश्न यह है कि प्रकृति तो एक है, उससे नाना प्रकार की सृष्टि किस प्रकार बन जाती है। इस सूत्र में उत्तर देते हैं कि जिस प्रकार जो स्वभाव से ही दास है, वह अपने स्वामी को प्रसन्न करने के लिये अनेक प्रकार की चेष्टाएं करता है; इसी प्रकार प्रकृति भी विचित्रता से अनेक प्रकार की सृष्टि रचती है।

"आवृत्तिस्तत्राप्युत्तरोत्तरयोनियोगाद्धेयः"॥५२॥

(आवृत्तिः) वापिस लौटना पड़ेगा (तत्रापि) उसमें भी (उत्तरोत्तर-योनियोगात्) उत्तरोतर योनि के योग होने से (हेयः) त्याग के योग्य है।

अब प्रश्न यह है कि ४८ सूत्र में पढ़ा है—

"ऊर्ध्वं सत्वविशाला"

सतोगुणी पुरुष ऊंची गति को प्राप्त करते हैं।

ऐसी अवस्था में मोक्ष प्राप्त करने की क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर इस सूत्र में दिया गया है। चाहे कितनी ही ऊंची गति को सतोगुणी प्राप्त हो जायं, उन्हें पुनः यहां दुःख रूपी संसार में लौटना पड़ेगा; वह अवस्था हमेशा नहीं रह सकती; इसलिये मोक्ष का प्रयत्न अनिवार्य है।

"समानं जरामरणादिजं दुःखम्" ॥५३॥

(समानम्) बराबर है (जरामरणादिजम्) बुढ़ापे तथा मृत्यु आदि से पैदा हुआ (दुःखम्) दुःख।

चाहे सतोगुणी हो जांय; चाहे देवता बन जांय, चाहे रजोगुणी रहें अर्थात मनुष्य बन जांय और चाहे पशुयोनि में

चले जांय सब अवस्थाओं में बुढ़ापे और मरने का दुःख समान है।

"न कारणलयात् कृतकृत्यता मग्नवदुत्थानात्" ॥५४॥

(कारणलयात्) कारण में लीन हो जाने से (न कृतकृत्यता) कल्याण नहीं होगा (मग्नवत्) जल में डूबे हुए के समान (उत्थानात्) फिर उठने से।

विवेक ज्ञान के बिना यदि प्रकृति में वैराग्य भी हो जाये, तब भी कल्याण नहीं है; क्योंकि उस व्यक्ति की अवस्था उस जल में डुबकी लगाए हुए मनुष्य की तरह है. जो थोड़े काल के लिये जल में लय हुआ प्रतीत होता है परन्तु पुनः वह बाहर निकल आता है। इसी प्रकार विवेक-शून्य वैराग्य की अवस्था है। कुछ काल के लिए उसे शान्ति उपलब्ध हो जाती है, परन्तु वह अवस्था हमेशा नहीं रहती।

"अकार्यत्वेऽपि तद्योगः पारवश्यात्" ॥५५॥

(अकार्यत्वेऽपि) कार्य के न होने पर भी—नित्य होते हुए भी (तद्योगः) उसका योग है (पारवश्यात्) पर वश होने से।

अब प्रश्न यह है कि प्रकृति को सृष्टि का उपादान कारण क्यों माना गया है ? इसका उत्तर इस सूत्र में दिया गया है।

प्रकृति को सृष्टि का उपादान कारण इसलिये माना गया है, क्योंकि वह परवश है, और जो परवश होता है, उसे ही काम करना पड़ता है, इसलिये प्रकृति को ही सृष्टि करने का योग है।

"सहि सर्ववित् सर्वकर्त्ता" ॥५६॥

(सः) वह परमात्मा (हि) निश्चय से (सर्ववित्) सर्वज्ञ है (सर्वकर्ता) सबका कर्त्ता है।

प्रकृति तो इस सृष्टि का उपादानकारण है और जो परमात्मा सर्वज्ञ है, वह सबका नैमित्तिक कारण है।

"ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा" ॥५७॥

(ईदृशेश्वरसिद्धिः) इस प्रकार के ईश्वर की सिद्धि (सिद्धा) सिद्ध है।

इस प्रकार के ईश्वर की सिद्धि स्पष्ट है। जो इस सृष्टि का नैमित्तिक कारण है, वह सृष्टि का उपादानकारण नहीं।

"प्रधानसृष्टिः परार्थं स्वतोऽप्यभोक्तृत्वादुष्ट्र कुंकुमवहनवत्" ॥५८॥

(प्रधानसृष्टिः) प्रकृति का सृष्टि करना (परार्थम्) दूसरे के लिये है (स्वतोऽपि) अपने आप करने पर भी (अभोक्तृत्वात्) भोक्ता होने की सामर्थ्य न होने से (उष्ट्रकुंकुमवहनवत्) ऊंट का केसर को ढोकर ले चलने के समान।

प्रकृति का सृष्टि करना दूसरे के लिये है; क्योंकि वह प्रकृति भोग नहीं कर सकती; जैसे, किसी ऊँट पर केसर लदा हुआ हो तो ऊँट स्वयं उससे कोई लाभ नहीं उठा रहा, प्रत्युत वह केसर उसके स्वामी के लिये है। इसी प्रकार प्रकृति का सृष्टि करना पुरुष के लिये है, अपने लिये नहीं।

"अचेतनत्वेऽपि क्षीरवच्चेष्टितं प्रधानस्य" ॥५९॥

(अचेतनत्वेऽपि) अचेतन होने पर भी (क्षीरवत्) दूध की तरह

(चेष्टितम्) चेष्टा की जाती है (प्रधानस्य) प्रकृति की ।

अब प्रश्न यह है कि प्रकृति तो जड़ है, इसलिये जड़ होती हुई दूसरे के लिये सृष्टि कैसे पैदा कर सकती है ? इसका उत्तर इस सूत्र में दिया है ।

प्रकृति जड़ होती हुई भी, उसी प्रकार चेष्टा करती है, जिस प्रकार दूध जड़ होता हुआ भी दही में परिवर्तित होने की चेष्टा करता है ।

"कर्मवद् दृष्टे र्वा कालादेः" ॥६०॥

(कालादेः) काल आदि (कर्मवत्) कर्म के समान (दृष्टेः) देखने से (वा) अथवा ।

जैसे खेती अपने काल पर पक जाती है और दूसरे के लिये फल देती है, इसी प्रकार प्रकृति की सृष्टि भी दूसरों के लिये फल देती है।

"स्वभावाच्चेष्टितमनभिसन्धानात् भृत्यवत्" ॥६१॥

(अनभिसन्धानात्) विना स्वार्थ के (भृत्यवत्) नौकर की तरह (स्वभावात्) स्वभाव से (चेष्टितम्) चेष्टा करता है ।

जिस प्रकार चतुर सेवक विना किसी स्वार्थ के स्वभावतः अपने मालिक के लिये कर्म करता है, इसी प्रकार यह प्रकृति पुरुष के लिये चेष्टा करती है ।

"कर्माकृष्टेर्वाऽनादितः" ॥६२॥

(कर्माकृष्टेः) कर्म के आकर्षण से (अनादितः) अनादि से (वा) अथवा ।

अथवा कर्मों के अनादि प्रवाह के वश होकर प्रकृति सृष्टि को करती है।

"विविक्त.बोधात् सृष्टिनिवृत्तिः प्रधानस्य सूदवत् पाके" ॥६३॥

(विविक्तबोधात्) विविक्त पुरुष को विवेक ज्ञान हो जाने से (सृष्टिनिवृत्तिः) सृष्टि की निवृत्ति हो जाती है (प्रधानस्य) प्रकृति को (सूदवत्) रसोइये की तरह (पाके) रसोई खाने में।

जब विवेक ज्ञान हो जाता है, तब प्रकृति की सृष्टि निवृत्त हो जाती है, जैसे खाना बना चुकने पर रसोइया अपने काम से निवृत्त हो जाता है, फिर उसे रसोईखाने में कोई काम नहीं रहता। ठीक इसी प्रकार जब विवेक ज्ञान हुआ तब प्रकृति की सृष्टि से मनुष्य निवृत्त हो जाता है।

"इतर इतरवत्तद्दोषात्" ॥६४॥

(इतरः) ज्ञान रहित पुरुष (इतरवत्) बद्ध के बराबर है (तद्दोषात्) उसके दोष से।

जो पुरुष ज्ञान रहित है, वह बद्ध के बराबर है, क्योंकि अज्ञान के दोष से उसे बंधा रहना ही पड़ता है।

"द्वयोरेकतरस्य वौदासीन्यमपवर्गः" ॥६५॥

(द्वयोः) दोनों का (एकतरस्य) एक का (वा) अथवा (औदासीन्यम्) उदासीन होना (अपवर्गः) मोक्ष है।

दोनों प्रकृति वा पुरुष का उदासीन होना अर्थात् परस्पर

वियोग होना अथवा एक पुरुष का ही प्रकृति से उदासीन हो जाना मोक्ष कहाता है ।

"अन्यसृष्ट्युपरागेऽपि न विरज्यते
प्रबुद्धरज्जुतत्त्वस्येवोरगः" ॥६६॥

(अन्यसृष्ट्युपरागेऽपि) अन्य के सृष्टि उपराग में भी (न विरज्यते) विरक्त नहीं होती (प्रबुद्धरज्जुतत्त्वस्येव) रस्सी के ज्ञान को जानने वाले की तरह (उरगः) सांप ।

जिस को तत्त्व ज्ञान हो गया, उसके लिये तो सृष्टि की निवृत्ति हो गई । परन्तु जो अभी तक अज्ञानी है, उसके लिये सृष्टि अपना कार्य ज्यों का त्यों करती रहती है । जिस पुरुष को रस्सी का ज्ञान प्राप्त करने से सांप का भ्रम हट गया, उसके लिये तो वह भ्रम हमेशा के लिये दूर हो गया । परन्तु जिसे अभी अज्ञान है, वह उस रस्सी को सांप ही समझता है । इसी प्रकार जिसे तत्त्व ज्ञान नहीं हुआ, उसे सृष्टि का अभ्यास अनिवार्य है ।

"कर्मनिमित्तयोगाच्च" ॥ ६७॥

कर्मनिमित्त योग से भी ज्ञान रहित पुरुष के लिये सृष्टि का निर्माण होता रहता है ।

सृष्टिके प्रवाह में जो कर्म हेतु हैं, उनके कारण भी प्रकृति सृष्टि का निर्माण करती रहती है, और युक्त पुरुष के लिये जब कोई कर्म नहीं रहता , उस अवस्था में सृष्टि शान्त हो जाती है ।

"नैरपेक्ष्येऽपि प्रकृत्युपकारेऽविवेकोनिमित्तम्" ॥६८॥

(नैरपेक्ष्येऽपि) अपेक्षा न होने में भी (प्रकृत्युपकारे) प्रकृति के उपकार में भी (अविवेकोनिमित्तम्) अविवेक कारण है ।

यद्यपि सब पुरुष निरपेक्ष्य हैं; परन्तु जब तक अविवेक है, तभी तक प्रकृति उपकार करती रहती है । ज्योंही विवेक हुआ; प्रकृति उस पुरुष के लिये सृष्टि करना बन्द कर देती है ।

"नर्तकीवत् प्रवृत्तस्यापि निवृत्तिश्चारितार्थ्यात्" ॥६९॥

(नर्तकीवत्) नाचने वाली के तुल्य (चारितार्थ्यात्) चरितार्थ होने से (मनोरथ सिद्ध होने से) (प्रवृत्तस्याऽपि) प्रवृत्ति की भी (निवृत्ति) निवृत्ति हो जाती है ।

जिस प्रकार नाचने वाली मनोरथ के सिद्ध हो जाने से अपना नाच बन्द कर देती है, इसी प्रकार प्रकृति मनुष्य को विवेक ज्ञान हो जाने पर अपनी प्रवृत्ति से निवृत्त हो जाती है अर्थात् सृष्टि बन्द हो जाती है ।

"दोषबोधेऽपि नोपसर्पणं प्रधानस्य कुलवधूवत्" ॥७०॥

(कुलवधूवत्) कुल की वधू की तरह (दोषबोधेऽपि) दोष के पता लग जाने पर भी (प्रधानस्य) प्रकृति का (नोपसर्पणम्) नहीं पास जाना होता ।

जिस प्रकार लज्जित कुल वधू, जिसको अपना दोष मालूम हो गया है, पुनः पर-पुरुष के पास जाने का साहस नहीं करती; इसी प्रकार प्रकृति उस पुरुष के पास नहीं जाती, जिसको उस का दोष मालूम हो गया है ।

"नैकान्ततो बन्धमोक्षौ पुरुषस्या विवेकादृते"॥७१॥

(अविवेकादृते) अविवेक के विना (पुरुषस्य) पुरुष का (न) नहीं है (एकान्ततः) वास्तविक रूप से (बन्धमोक्षौ) बन्ध और मोक्ष।

पुरुष को दुःख के योग या वियोग रूप जो बन्ध और मोक्ष हैं, वे स्वाभाविक नहीं, प्रत्युत अविवेक द्वारा ही होते हैं।

"प्रकृतेराञ्जस्यात् ससङ्गत्वात्पशुवत्"॥७२॥

(प्रकृतेः) प्रकृति के (ससङ्गत्वात्) गुण दोष के संग से (आञ्जस्यात्) तत्वतः (पशुवत्) पशु की तरह।

वस्तुतः पुरुष का प्रकृति के साथ संग होने से बन्ध होता है पुरुष का प्रकृति का साथ छोड़ने से मोक्ष होता है। जैसे पशु रस्सी के संयोग से बन्ध जाता है जब रस्सी का संयोग नही रहता तब वह पशु मुक्त हो जाता है।

"रूपैस्सप्तभि रात्मानं बध्नाति प्रधानं कोशकारवद्विमोचयत्येकरूपेण॥ ७३ ॥

(आत्मानम्) आत्मा को (प्रधानम्) प्रकृति (सप्तभिः) सात (रूपैः) रूपों से (बध्नाति) बांधती है (कोशकारवत्) कुसियारी के कीड़े की तरह (विमोचयति) छोड़ती है (एकरूपेण) एक मात्र रूप से (ज्ञान से)।

धर्म, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य इन सात रूप वाले दुःखों से प्रकृति आत्मा को बांधती है; जैसे कुसियारी का कीड़ा अपने बनाये हुए वास स्थान से अपनी आत्मा को बांधता है। ज्ञान-भाव से ही मनुष्य प्रकृति के

बन्धनों से छूट सकता है।

"निमित्तत्वमविवेकस्य न दृष्टहानिः"॥ ७४ ॥

(अविवेकस्य) अविवेक का (निमित्तत्वम्) निमित्त होना है, इसलिये (दृष्टहानिः) धर्मानुष्ठानादि चित्तशोधक कर्म करने में कोई हानि (न) नहीं है।

अविवेक ही बन्धन का मुख्य कारण है, इसलिये इस अविवेक को दूर करने के लिये चित्तशोधक कर्म करने में कोई हानि नहीं है।

"तत्त्वाभ्यासान्नेति नेतीति त्यागाद्विवेकसिद्धिः"॥७५॥

(नेति नेति) यह नहीं है, यह नहीं है (त्यागात् तत्त्वाभ्यासात्) इस त्याग रूप तत्व के अभ्यास से (विवेकसिद्धिः) विवेकसिद्धि होती है।

प्रकृति के प्रत्येक पदार्थ का सम्यक्तया विश्लेषण कर इस नतीजे तक पहुँचना कि इन पदार्थों में से कोई भी आत्मा नहीं है; आत्मा सर्वथा इनसे भिन्न है, ऐसा तत्त्वाभ्यास कर आत्मा का साक्षात्कार करना विवेक ज्ञान को उपलब्ध करने में सहायक है। इसी को ही विवेक सिद्धि कहते हैं।

"अधिकारिप्रभेदान्न नियमः"॥७६॥

(अधिकारिप्रभेदात्) अधिकारियों के भेद से (नियमः) नियम (न) नहीं है।

यह नियम नहीं है कि एक ही जन्म में मनुष्य को विवेक ज्ञान हो जाय। जैसा २ अधिकारी होगा, तदनुसार उसको विवेक की शक्ति उपलब्ध होगी।

"बाधितानुवृत्या मध्यविवेकतोऽप्युपभोगः" ॥७७॥

(बाधितानुवृत्या) दु:खों की अनुवृत्ति से (मध्यविवेकतः) मध्यविवेक से (अपि) भी (उपभोग:) दु:खों का उपभोग रहता है।

केवल सर्वोत्कृष्ट विवेक से ही असम्प्रज्ञातावस्था निर्बीज समाधि प्राप्त होती है। मध्यम कोटि के विवेक में भी दु:ख का सर्वथा नाश नहीं होता। अत: उत्तम विवेक ही मुक्ति का साधन है।

"जीवन्मुक्तश्च" ॥७८॥

जब विवेक हो जाता है, तब इस शरीर के रहते हुए भी मनुष्य मुक्त हो सकता है। उसी को जीवन्मुक्त कहते हैं।

"उपदेश्योपदेष्टृत्वात्तत्सिद्धिः" ॥७९॥

(उपदेश्योपदेष्टृत्वात्) उपदेश के योग्य या उपदेश करने वाले के भाव से (तत्सिद्धिः) उसकी सिद्धि है।

विना गुरु द्वारा उपदेश लिये शिष्य को विवेक प्राप्त नहीं हो सकता। जब गुरु की कृपा होगी, तब विवेक ज्ञान प्राप्त कर जीवन्मुक्त होना कोई कठिन नहीं है।

"श्रुतिश्च" ॥८०॥

श्रुति भी उपरोक्त कथन में प्रमाण है।

"इतरथाऽन्धपरम्परा" ॥८०॥

अन्यथा अन्धपरम्परा होने की प्राप्ति है।

यदि ज्ञानी गुरु से उपदेश न लिया जाय, तो अन्ध परम्परा

हो जायगी। अन्धे पुरुष से ले जाते हुए सब पुरुष अन्धेरे के गढ़े में गिरेंगे—अन्धेन नीयमाना यथान्धाः।

प्रश्न—जब ज्ञान से सब कर्म नष्ट हो गये, तो मनुष्य शरीर रखता हुआ जीवन्मुक्त कैसे हो सकता है? इसका उत्तर निम्न सूत्र में दिया गया है:—

"चक्रभ्रमणवद्धृतशरीरः"॥८२॥

(चक्रभ्रमणवत्) चक्र भ्रमण की तरह (धृतशरीरः) धारण किये शरीर वाला।

जिस प्रकार कुम्हार का चाक बर्तन बन जाने पर भी बहुत देर तक पीछे घूमता रहता है; इसी प्रकार कर्म निवृत्त हो जाने पर भी प्रारब्ध कर्मों के संस्कार के वेग से जीवन्मुक्त शरीर को धारण किए रहते हैं।

"संस्कारलेशतस्तत्सिद्धिः"॥८३॥

संस्कार के लेश से उसकी सिद्धि है।

अर्थात् किञ्चित कर्म संस्कार रह जाने से जीवन्मुक्त शरीर धारण करता है।

"विवेकान्निश्शेषदुःखनिवृत्तौ कृतकृत्यता नेतरान्नेतरात्"॥८४

(विवेकात्) विवेक से (निश्शेषदुःखनिवृत्तौ) सर्वथा दुःखों के निवृत्त होने में (कृतकृत्यता) सफलता मिलती है (नेतरान्नेतरात्) दूसरे से नहीं, दूसरे से नहीं।

सर्व दुःखों का समूलनाश केवल विवेक ज्ञान द्वारा होता है। इसके अतिरिक्त और कोई रास्ता नहीं, और कोई रास्ता नहीं।

❀ ओ३म् ❀

चतुर्थ-अध्याय

इस अध्याय में कहानियों, तथा उदाहरणों द्वारा विवेक के साधनों का वर्णन है। मुख्य २ कहानियां और उदाहरण निम्न हैं:—

कपिल मुनि कहते हैं कि दुनियां विचारों के समूह का नाम है। जैसे विचार संसार में फैला दिये जावें उसी प्रकार का संसार प्रतीत होता है यदि कमज़ोरी के विचारों का प्रवाह ज़ोरों पर हो जावे तब सब अपने आपको कमज़ोर, सुस्त और निकम्मे समझने लग पड़ते हैं। संकल्प और विकल्प के आधार पर इस सृष्टि की स्थिति है।

एक राजा का पुत्र जो किसी रोग के कारण राज्य से निकाल दिये जाने पर किसी भील के पास रख दिया गया और वहीं उसका पालन-पोषण होता रहा। राजपुत्र भी भीलों की तरह व्यवहार करता और अपने आपको भीलों जैसा ही कमज़ोर और छोटा समझना। परन्तु किसी वृद्ध मन्त्री ने एक बार उसे देख लिया और उसे बतलाया कि तू राजपुत्र है, भील नहीं। तब वह राजपुत्र अपने आपको राजा समझने लगा। उसकी सारी कमज़ोरी दूर हो गई और आकृति में परिवर्तन आ गया।

इसीलिये कपिल मुनि कहते हैं कि विचारों के आधीन यह सारी दुनिया है। जिस प्रकार उस राजपुत्र को अपनी स्थिति का

ज्ञान हो गया; इसी प्रकार उस मनुष्य को भी अपनी स्थिति का ज्ञान हो जायेगा। जिसे अपने स्वरूप का ज्ञान दे दिया गया है, फिर वह क्यों मिथ्या ज्ञान में फंसेगा। इसलिये विचारों का प्रवाह शुद्ध और अविकल होना चाहिये। जो लोग गुरु की शरण में रह कर श्रद्धा पूर्वक उनके वचनों पर आचरण करते हैं और सत्संग में अपना समय व्यतीत करते हैं, उन्हें भी विवेक ज्ञान हो जाता है। जब विवेक ज्ञान का उपदेश श्री कृष्ण महाराज अर्जुन को दे रहे थे, तब एक पिशाच उस उपदेश को सुन रहा था। उसने उस उपदेश के अनुसार अमल किया और उस का कल्याण हो गया। इसी प्रकार सत्संगति का असर प्रत्येक मनुष्य को लाभ पहुँचा सकता है।

जिस से जो चीज़ ज़बरदस्ती छुड़ा दी जाती है, उससे मनुष्य को दुःख होता है। परन्तु जिसे विष समझकर स्वयं छोड़ दिया जाता है, उससे कोई कष्ट नहीं होता। इसी प्रकार जिस मनुष्य को विषय वासना के असार तथा मिथ्या होने का ज्ञान हो गया वह उसे उसी प्रकार छोड़ देता है, जिस प्रकार सांप अपनी पुरानी कैंचुली को त्याग देता है। या जिस प्रकार जो हाथ कट चुका है, उसे फिर कोई उठाकर अपनी बाजु पर नहीं लगाता। परन्तु जिस को ज़बरदस्ती विषय छोड़ने पड़ते हैं, उसे अत्यन्त क्लेश होता है। इसलिये विवेक ही एक साधन है, जिसे प्राप्त कर मनुष्य स्वयं ही विषय वासना से अलग हो जाता है।

जो मनुष्य अपना समय व्यर्थ और तुच्छ बातों में व्यतीत

करता है, उसे जन्म जन्मान्तर के चक्र में घूमना पड़ता है। जैसे भरत थे। उन्हें एक हिरणी के साथ मोह हो गया। परिणाम यह हुआ कि हर समय वह उस हिरणी के पालन-पोषण में अपना समय व्यतीत करने लगे और विवेक साधन से विमुख हो गये। परिणामतः उन्हें फिर जन्म मरण चक्र में फंसना पड़ा।

कपिल मुनि कहते हैं कि जिस व्यक्ति ने विवेक ज्ञान प्राप्त करना हो उसे एकान्त वास करना चाहिये और उसे बहुतों के संसर्ग में न रहना चाहिये। एक कुमारी का उदाहरण देते हैं। उसके घर जब अतिथि आये तो उसने चूड़ियां पहनी हुई थीं। जब उनके आतिथ्य के लिये वह धान कूटने लगी, तो उन चूड़ियों की आवाज होने लगी। उसे बड़ी शरम आई कि अतिथि क्या कहेंगे। क्या इसके घर इतना भी अन्न नहीं कि जिससे यह हमारी सेवा कर सके और वह नया अन्न तैयार करने में तत्पर हो रही है। तब उसने सब चूड़ियां तोड़ डालीं और केवल दो चूड़ियां अपने पास रखलीं। परन्तु उनकी आवाज होती थी। तब उसने एक चूड़ी रहने दी। तब जाकर यह आवाज बन्द हुई। कपिल मुनि कहते हैं कि जो इस प्रकार एकाकी हो जाते हैं और अपना अध्ययन करते रहते हैं, उन्हें ही यह विवेक ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

दूसरा विवेक ज्ञान प्राप्त करने का यह तरीक़ा है कि मनुष्य स्वावलम्बी हो, किसी वस्तु के लिये भी वह दूसरों से याचना

न करे। जैसे सांप अपना कोई घर नहीं बनाता। जहां बिल देखता है, उसी में अपना घर बना लेता है। इसी प्रकार विवेक साधक भी बेपरवाह रहे और स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करे ।

विवेकी स्वाध्याय करें; परन्तु जो उस स्वाध्याय में अपने मतलब की बात हो उसी पर अपना समय दें और उसीके अनुसार आचरण करें। केवल दिमाग़ी या दिल बहलाने के लिये स्वाध्याय करना पर्याप्त नहीं।

विवेकी पुरुष के लिये आवश्यक है कि वह एकाग्र चित्त हो; जैसे एक बाण बनाने वाला अपने काम में इतना मस्त था कि उसके पास से सारी फौज गुजर गई, परन्तु उसे कुछ पता नहीं चला, इसी प्रकार विवेकी साधक को एकाग्रचित्त होना चाहिये।

विवेकी पुरुष जो वचन अपने मुख से निकाले उस पर पूरा पाबन्द रहे। कभी असत्य-भाषण तथा प्रतिज्ञा को भंग न करे। अन्यथा उसकी अवस्था वैसी हो जायेगी जैसी एक राजा की हुई थी। उस राजा ने भेकीराज की कन्या के साथ विवाह किया था। उस कन्या ने राजा से कहा था कि हे राजन् ! तुम्हें एक प्रतिज्ञा लेनी होगी कि मुझे पानी कभी न दिखलाया जाय; अन्यथा मैं उसमें लुप्त हो जाऊंगी। राजा ने स्वीकार कर लिया। एक बार राजा आमोद-प्रमोद में मस्त था। लड़की ने उससे पानी मांगा। राजा ने झट एक गिलास पानी का ला दिया। वह कन्या अपने कथन के अनुसार उसमें लुप्त हो गई। राजा

अपनी प्रतिज्ञा भूल चुका था। उसका परिणाम यह हुआ कि अब वह पछताने लगा। इसी प्रकार जो विवेकी पुरुष अपनी प्रतिज्ञा तथा निश्चय से विचलित हो जाता है, उसकी अवस्था उस राजा के तुल्य है।

यह आवश्यक नहीं कि उपदेश मात्र से किसी का कल्याण हो जावे। एक बार इन्द्र और विरोचन दोनों प्रजापति के पास उपदेश लेने के लिये गये थे। विरोचन ने उस उपदेश के मर्म को नहीं समझा। इसलिये वह कोरे का कोरा रहा। नम्रता, ब्रह्मचर्य, और गुरु की चिरकाल तक सेवा करने से ही कुछ प्राप्ति हो सकती है। या उन महात्माओं को जल्दी कृतकार्यता प्राप्त होती है, जिनमें पूर्व संस्कार अत्यन्त उत्तम होते हैं; जैसे वामदेव के थे।

विवेकी पुरुष के लिये वैराग्य एक हीरा है, जिसको प्राप्त कर वह दुःखों से हमेशा के लिये छूट जाता है। जिस प्रकार हंस दूध और पानी को जुदा करने की शक्ति रखता है; इसी प्रकार विरक्त को भी (क्या ग्रहण करना चाहिये, क्या छोड़ना चाहिये) विवेक ज्ञान सम्यक्तया हो जाता है।

जो लोग विषय-वासना भोगादि में लिप्त रहते हैं; वे सौभर मुनि की तरह बहुत पछताते हैं। परन्तु अब पछताये होत क्या, जब चिड़ियां चुग गईं खेत। इसलिये विवेकी पुरुष को विषयों में हर समय दोष देखते रहना चाहिये।

मलिन-दर्पण में जिस प्रकार अपना मुख साफ २ दिखलाई नहीं देता; इसी प्रकार मलिन चित्त में भी विवेक का प्रकाश

नहीं होता। राजा अज, जिसका हृदय मलिन था, जब उसकी धर्म पत्नी इन्दुमति का देहान्त हुआ, तो वह शोक सागर में डूब गया; क्योंकि उसका हृदय मोह से मलिन हो चुका था। इसी प्रकार मलिन हृदय में प्रकाश नहीं हो सकता और वह मनुष्य हमेशा सुख दुःख के गढ़े में पड़ा रहता है। इस प्रकार कपिल मुनि ने अनेक कथाओं द्वारा विवेक-साधनों पर प्रकाश डाला है।

❀ ओ३म् ❀

चतुर्थ-अध्याय

"राजपुत्रवत्तत्त्वोपदेशात्"॥१॥

(राजापुत्रवत्) राजा के पुत्र के समान (तत्वोपदेशात्) तत्व के उपदेश से।

एक राजा ने किसी दूसरे राजा के राज्य पर हमला किया और आज्ञा दी कि इस राज्य में दो वर्ष के आयु से नीचे जितने भी बालक हों, उन्हें क़त्ल कर दिया जावे।

राजा का लड़का भी दो वर्ष से नीचे था। कहीं यह बालक क़त्ल न हो जावे, इस भय से राजा के कर्मचारी उसे किसी दूरस्थ स्थान पर मल्लाह के घर छोड़ आये। वह बालक वहीं बढ़ा और जवान होकर मल्लाहों जैसा कार्य करने लगा।

एक बार किसी राज्य कर्मचारी का वहां जाना हुआ। उसने कहा—तू, मल्लाह नहीं है, राजपुत्र है। जब उसको यह विश्वास हो गया, कि वस्तुतः मैं राजकुमार हूं, तब मल्लाह का व्यवहार छोड़कर राजपुत्रों जैसी चेष्टा करने लगा।

ठीक इसी प्रकार जब मनुष्य को वस्तुतः अपना तत्त्वज्ञान हो जाता है, तब वह प्रकृति का संग छोड़कर अपने आप में मग्न हो जाता है।

"पिशाचवदन्यार्थोपदेशेऽपि"॥२॥

(पिशाचवत्) पिशाच की तरह (अन्यार्थोपदेशेऽपि) दूसरे के लिये उपदेश में भी।

एक बार श्री कृष्ण महाराज अर्जुन को उपदेश कर रहे थे। एक पिशाच भी कोने में छिपा हुआ, उस उपदेश को सुन रहा था। उसका भी कल्याण हो गया।

इसी प्रकार जो भी उपदेश ग्रहण करता है और उसके अनुसार आचरण करता है, उसका भी अवश्य कल्याण हो जाता है

"आवृत्तिरसकृदुपदेशात्"।।३।।

(असकृदुपदेशात्) निरन्तर उपदेश से (आवृत्तिः) आवृत्ति करनी चाहिये।

जिन्हें तीव्र वैराग्य होता है, उनको तो केवल एक वार का उपदेश पर्य्याप्त है। परन्तु जिनका वैराग्य मन्द है, उन्हें जब तक कई वार उपदेश न दिया जावे, तब तक वह अपना प्रभाव नहीं पैदा करता। जैसे श्वेतकेतु को आरुणि ने बार-बार उपदेश देकर उसे सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न किया था।

"पितापुत्रवदुभयोर्दृष्टत्वात्"।।४।।

पिता पुत्र की तरह दोनों के जानने वाला होने से।

कोई मनुष्य अपनी गर्भिणी स्त्री को छोड़कर रोजगार के लिये परदेश चला गया और कई वर्षों तक बाहर रहा। पीछे उसकी स्त्री को एक लड़का पैदा हुआ। जब वह मनुष्य घर वापिस लौटकर आया, तो उसने अपने घर में एक नव जवान

सुन्दर बालक देखा, तब उसने अपनी भार्या से पूछा कि वह कौन है ? भार्या ने कहा यह तेरा लड़का है और लड़के से कहा ये तेरे पिता हैं। तब वे एक दूसरे को देखकर बड़े प्रसन्न हुए और एक दूसरे से परिचित हो गये।

इसी प्रकार विवेक द्वारा मनुष्य प्रकृति और पुरुष दोनों को सम्यक्तया जान लेता है।

"श्वानवत् सुखदुःखी त्यागवियोगाभ्याम्"॥५॥

(श्वानवत) कुत्ते की तरह (सुखदुःखी) सुखी और दुःखी होता है (त्यागवियोगाभ्याम्) त्याग और वियोग से।

एक कुत्ता किसी मांस के टुकड़े को अपने मुख में लिये जाता था। एक व्याध ने उसके मुख से टुकड़ा छीन लिया। इससे उस कुत्ते को बड़ा दुःख हुआ। यदि वह अपने आप उस टुकड़े को फेंक देता तो उसे कोई क्लेश नहीं होता।

इसी प्रकार जब मनुष्य से विषय जबरदस्ती छुड़ाये जाते हैं, तब उसे अत्यन्त दुःख होता है। परन्तु यदि वह उन्हें अपने आप छोड़ देता है, तो उसे कोई क्लेश नहीं होता।

"अहिनिर्ल्वयिनीवत्" ॥६॥

सांप की कैंचुली के समान।

जिस प्रकार सांप अपनी पुरानी कैंचुली छोड़ देता है; इसी प्रकार मुमुक्षु को अपने कुत्सित-विषय जीर्ण समझकर त्याग देने चाहिये।

"छिन्नहस्तवद्वा" ॥७॥

अथवा कटे हुए हाथ के समान।

जैसे कटा हुआ हाथ किसी काम का नहीं। उसे उठा कर फिर अपने बाजू पर जोड़ने का कोई प्रयत्न नहीं करता। ठीक इसी प्रकार जब विषय एक बार त्याग दिये, तब फिर उनका चिन्तन करना मुमुक्षु के लिये उचित नहीं।

"असाधनानुचिन्तनं बन्धाय भरतवत्" ॥८॥

(असाधनानुचिन्तनम्) जो वस्तुतः मोक्ष का साधन नहीं है, उसका अनुचिन्तन करना (बन्धाय) दुःख के लिये है (भरतवत्) भरत की तरह।

यदि हम किसी धर्म का विवेक रहित होकर पालन करते हैं, तो वह भी बन्ध का कारण हो जाता है; जैसे, भरत का हुआ। भरत दया के आवेश में आकर एक हरिण के बच्चे का पालन-पोषण करने लगे; परन्तु उसमें वे इतने निमग्न हो गये कि विवेक-प्राप्ति के समय को भी नष्ट कर बैठे। वह दया उनके बन्ध का कारण बन गई।

"बहुभिर्योगे विरोधो रागादिभिः कुमारीशङ्खवत्" ॥९॥

(बहुभिः) बहुतों के साथ (योगे) मेल होने पर (रागादिभिः) रागादि से (विरोधः) विरोध होता है (कुमारीशङ्खवत्) कुमारी की चूड़ियों के समान।

विवेक साधन के समय बहुतों का संग न करे, किन्तु अकेले ही विवेक साधन करे; क्योंकि बहुतों के साथ में रागद्वेषादि उत्पन्न हो जाते हैं और उससे साधन ठीक प्रकार नहीं हो सकता।

एक कुमारी के घर में महमान आये। उनका आतिथ्य करने के लिये उसने धान्य कूटने शुरू किये। चूड़ियां जो उसने पहनी हुई थीं; उनका झंकार महमानों के दिल में यह ख्याल पैदा करने वाला हुआ कि इस कुमारी के घर में धान्य कूटने वाला कोई और नहीं। उन महमानों के दिल से यह ख्याल दूर करने के लिये, उसने सब चूड़ियों को तोड़ डाला। जब केवल दो चूड़ियां रह गइ तब भी झंकार होता था। इसलिये उन दो चूड़ियों में से भी एक चूड़ी को तोड़ डाला। तब आवाज बन्द हो गई।

इसी प्रकार जब तक दूसरों के साथ संग रहता है, तब तक रागद्वेषादि की कलह बनी रहती है। जब अभ्यासी एकाकी हो जाता है, तभी विवेक साधन करने में समर्थ हो जाता है।

"द्वाभ्यामपि तथैव"॥१०॥

इसी प्रकार से दो के साथ भी।

दो के साथ भी उसी प्रकार से राग द्वेषादि बना रहता है, जैसे बहुतों के संग से। इसलिये अभ्यासी को एकान्त में ही रहना चाहिये।

"निराशः सुखी पिङ्गलावत्"॥११॥

(निराशः) आशा रहित (सुखी) सुखो होवे (पिङ्गलावत्) पिङ्गला वैश्या की तरह ।

पिङ्गला वैश्या एक दिन शृङ्गार करके अपने प्रेमी की प्रतीक्षा करने लगी। परन्तु जब बहुत रात बीतने पर भी उसका प्रेमी नहीं आया, तब उसे विवेक-ज्ञान हुआ कि आशा रखने में ही दुःख है।

इसी प्रकार जब मनुष्य आशा रहित हो जाता है, तभी वह सुखी रह सकता है।

"अनारम्भेऽपि परगृहे सुखी सर्पवत्"॥१२॥

(अनारम्भेऽपि) विना घर बनाये भी (परगृहे) दूसरे के घर में (सुखी) सुखी रहता है (सर्पवत्) सांप की तरह ।

ज्ञानी को अपने पास कोई सम्पत्ति नहीं बनानी चाहिये। उसे सांप की तरह रहना चाहिये। सांप का कोई अपना बनाया हुआ बिल नहीं होता, जहां चाहे वहां ही किसी के बिल को अपना घर बना लेता है।

"बहुशास्त्रगुरूपासनेऽपि सारादानं षट्पदवत्"॥१३॥

(बहुशास्त्रगुरूपासनेऽपि) बहुत शास्त्रों के पढ़ने में भी और गुरु सेवा में भी (सारादानम्) सार का ग्रहण करे (षट्पदवत्) भ्रमर के समान ।

जैसा भ्रमर फलों के सार को ग्रहण करता है; इसी प्रकार विवेकी-पुरुष सब शास्त्रों में से तथा गुरुओं के उपदेश में से सार ग्रहण करे।

"इषुकारवन्नैकचित्तस्य समाधिहानिः"॥१४॥

(इषुकारवत्) बाण बनाने वाले की तरह (एकचित्तस्य) एकाग्रचित्त वाले की (न) नहीं होती (समाधिहानिः) समाधि में हानि ।

जिस प्रकार एक बाण बनाने वाला अपने काम में इतना निमग्न होता है कि उसको अपने नज़दीक से भी सारी फौज़ के गुजर जाने पर कुछ पता नहीं लगता; इसी प्रकार जिस मनुष्य का चित्त एकाग्र हो गया है, उसे समाधि द्वारा विवेक ज्ञान की सिद्धि हो जाती है ।

"कृतनियमोल्लंघनादानर्थक्यं लोकवत्"॥१५॥

(कृतनियमोल्लंघनात्) किये हुये नियमों के उल्लंघन से (लोकवत्) लोक के समान (आनर्थक्यम्) अनर्थ होता है ।

शास्त्र में जो नियम हैं, उनका उल्लंघन करने से ज्ञानी को सिद्धि नहीं होती, प्रत्युत अनर्थ होता है; जैसे साधारण लोक व्यवहार के नियमों का उल्लंघन करने से अव्यवस्था हो जाती है ।

"तद्विस्मरणेऽपि भेकीवत्"॥१६॥

उसके भूलने में भी भेकी की तरह ।

एक बार कोई राजा शिकार खेलने गया; उसने एक सुन्दर कन्या देखी । उस कन्या से उसने पूछा कि तुम कौन हो ? कन्या ने उत्तर दिया कि वह भेकीराज की लड़की है । राजा ने उसके साथ विवाह करने की इच्छा की । कन्या ने कहा कि वह विवाह के लिये तैयार है; परन्तु एक शर्त है कि जल की शकल न दिखलाई जाय, अन्यथा मैं साथ छोड़ दूंगी । राजा ने इस शर्त

को स्वीकार कर लिया। उनका विवाह हो गया। परन्तु कुछ काल के पश्चात् जब वे परस्पर आनन्द में मस्त थे, उस लड़की ने पानी मांगा। राजा ने पानी दिखला दिया। लड़की उस पानी में लुप्त हो गई। राजा को अपना प्रण भूल गया था, अब उसे याद आया। परन्तु अब क्या हो सकता था ? बहुतेरा पानी में तलाश किया गया; परन्तु कुछ पता न चला। राजा बड़ा दुःखी हुआ।

इसी प्रकार अभ्यासी यदि अपने नियमों को भूल जाता है, तो पीछे बहुत पछताना पड़ता है।

"नोपदेशश्रवणेऽपिकृतकृत्यता परामर्शादृतेविरोचनवत्"॥१७॥

(उपदेशश्रवणेऽपि) केवल उपदेश के सुनने से ही (न कृतकृत्यता) सफलता नहीं होती (परामर्शादृते) बिना मनन किये (विरोचनवत्) विरोचन की तरह।

एक बार इन्द्र और विरोचन दोनों ब्रह्मा के पास उपदेश लेने के लिये गये परन्तु विरोचन उपदेश को लेकर वापिस लौट आया और उसका सम्यक्तया मनन नहीं किया। इन्द्र बहुत देर तक ब्रह्मा के पास रह कर उनकी आज्ञानुसार मनन करता रहा। विरोचन को कुछ भी लाभ नहीं हुआ। परन्तु इन्द्र ब्रह्मवेत्ता हो गये।

"दृष्टस्तयोरिन्द्रस्य"॥१८॥

(दृष्टः) देखा गया (तयोः) उन दोनों में (इन्द्रस्य) इन्द्र का।

उन दोनों में इन्द्र को विवेक ज्ञान हुआ देखा गया; क्योंकि उसने बहुत काल तक उपदेश का मनन किया था।

"प्रणतिब्रह्मचर्योपसर्पणानि कृत्वा सिद्धिर्बहुकालात्त-द्वत्"॥१६॥

(प्रणतिब्रह्मचर्योपसर्पणानि) नम्रता, वेदाध्ययन तथा सेवा आदि (कृत्वा) करके (तद्वत्) उसके समान (बहुकालात्) बहुत समय तक (सिद्धिः) सफलता होती है।

इन्द्र के समान बहुत काल तक वेदाध्ययन, नम्रता तथा सेवा करने के पश्चात् ही विवेकज्ञान की सिद्धि होती है।

"न कालनियमो वामदेववत्"॥२०॥

कई अवस्थाओं में बहुत कम समय में मुक्ति हो जाती है। और कई अवस्थाओं में बहुत देर में होती है; जैसे वामदेव को बहुत कम समय में हो गई थी। इसलिये समय का कोई नियम नहीं है।

"अध्यस्तरूपोपासनात्पारम्पर्येण यज्ञोपासकानामिव"॥२१॥

(अध्यस्तरूपोपसनात्) गुरु से उपदेश दिया हुआ जो विवेकज्ञान तक पहुंचने के लिये साधन, उसका पालन करने से (पारम्पर्येण) परम्परा के क्रम से (यज्ञोपासकानामिव) यज्ञोपासकों की तरह।

जिस प्रकार यज्ञ के उपासकों की परम्परा से मुक्ति होती है, इसी प्रकार उन मनुष्यों की भी मुक्ति होती है, जो गुरु मुख से उपदेश प्राप्त कर उनके बतलाये हुए साधनों पर अमल करते हैं।

"इतरलाभेऽप्यावृत्तिःपञ्चाग्नियोगतोजन्मश्रुतेः"॥२२॥

(इतरलाभेऽपि) आत्मिकज्ञान के अतिरिक्त वेदोक्त कर्मों के करने से लाभ होने पर भी (आवृत्तिः) पुनरावृत्ति होती है (पञ्चाग्नियोगतः) पञ्चाग्नि योग से (जन्मश्रुतेः) जन्म सुनने से।

छान्दोग्योपनिषद् में लिखा है कि जो पुरुष देवयान मार्ग से (वेदोक्तकर्मों के करने से) ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं। उनका पुनः जन्म होता है। केवल उनकी आवृत्ति नहीं होती जो ज्ञान उपलब्ध कर चुके हैं।

"विरक्तस्य हेयहानमुपादेयोपादानं हंसक्षीरवत्"॥२३॥

(विरक्तस्य) जिसको विवेक हो गया है, उसका (हेयहानम्) छोड़ने योग्य का त्याग (उपादेयोपादानम्) ग्रहण करने योग्य का ग्रहण (हंसक्षीरवत) हंस के दूध ग्रहण करने के समान है।

जिस पुरुष को विवेक हो गया है, वह छोड़ने योग्य वस्तुओं को त्याग देता है और ग्रहण करने योग्य वस्तुओं को ग्रहण कर लेता है, जैसे हंस जल को छोड़कर दूध ग्रहण कर लेते हैं।

"लब्धातिशययोगाद्वा तद्वत्"॥२४॥

(लब्धातिशययोगात) जिसको ज्ञान की पराकाष्ठा हो चुकी है, उसके संग से भी (तद्वत्) उसके समान हो जाता है।

जिसको पूरा विवेक हो चुका है, उसके संग से भी उसके सदृश विवेक उत्पन्न हो जाता है, जैसे, अलर्क को दत्तात्रेय महात्मा के संगमात्र से विवेक उत्पन्न हो गया था।

"न कामचारित्वं रागोपहते शुकवत्" ॥२५॥

(रागोपहते) जिसका चित्त रागादि में ग्रस्त है, उस पुरुष के पास (न कामचारित्वम्) कामचारी नहीं होना चाहिये (शुकवत्) तोते की तरह।

जिस प्रकार तोता जो एक वार दाने के लालच में आकर बन्धन में पड़ जाता है, परन्तु पुनः वहां से छूटने पर वह फिर उस बन्धन में कदापि नहीं पड़ता; ठीक इसी प्रकार उस पुरुष को जो विवेक ज्ञान प्राप्त करना चाहता है, उन लोगों का संग नहीं करना चाहिये जो रागादि में ग्रस्त हैं।

"गुणयोगाद्बद्धः शुकवत्" ॥२६॥

(गुणयोगात्) गुणों के संग से (बद्धः) बंध जाता है (शुकवत्) तोते की तरह।

जैसे मनोहर बोलने आदि गुणों से तोता बन्धन में पड़ जाता है; इसी प्रकार कामी पुरुष की लुभाने वाली बातों से यदि विवेकी पुरुष फंस जाय, तो उसे तोते की तरह बन्धन में पड़ना पड़ेगा।

"न भोगाद्रागशान्तिर्मुनिवत्" ॥२७॥

(भोगात्) भोग से (रागशान्तिः) राग की शान्ति (न) नहीं होती (मुनिवत्) सौभरि मुनि की तरह।

भोगों को अच्छी तरह भोगने से राग की शान्ति नहीं होती; जैसे-सौभरि मुनि ने खूब भोग किया, परन्तु उसे कुछ भी शान्ति नहीं हुई। मृत्यु के समय उस महात्मा ने निम्न शब्द बोले—

"आमृत्युतो नैवमनोरथानामन्तोऽस्ति विज्ञातमिदं मयाथ मनोरथामक्तिपरस्य चित्तं न जायते वै परमार्थसंगि"

आज मुझे इस बात का पूरा २ निश्चय हो गया है कि मृत्यु तक मनोरथों का अन्त नहीं है। और जो चित्त मनोरथों में लगा हुआ है, उसमें विवेक का उदय कभी नहीं होता।

"दोषदर्शनादुभयोः" ॥२८॥

(उभयोः) दोनों में (दोषदर्शनात्) दोष देखने से।

प्रकृति और प्रकृति के कार्यों में दोष देखने से राग की शान्ति होती है।

"न मलिनचेतस्युपदेशबीजप्ररोहोऽजवत्" ॥२९॥

(अजवत्) राजा अज के समान (नोपदेशबीजप्ररोहः) उपदेश का बीज नहीं जमता (मलिनचेतसि) मलिन चित्त में।

राजा अज की इन्दुमति स्त्री थी। राजा का उससे विशेष प्रेम था। जब उसका देहान्त हो गया, तो राजा बहुत दुःखी रहने लगा। वशिष्ठ मुनि ने राजा को बहुत उपदेश दिया; परन्तु उसका राजा के मलिन हृदय पर कोई प्रभाव न पड़ा।

इसी प्रकार मलिन हृदय पर उपदेश का कोई असर नहीं होता।

"नाभासमात्रमपि मलिनदर्पणवत्" ॥३०॥

(मलिनदर्पणवत्) मलिन शीशे के समान (नाऽभासमात्रमपि) छायामात्र भी प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता।

जैसे मलिन शीशे में प्रतिबिम्ब की छाया मात्र भी दिखलाई नहीं देती; इसी प्रकार मलिन हृदय में विवेक का उदय होना असम्भव है।

"न तज्जस्याऽपि तद्रूपता पङ्कजवत्" ॥ ३१ ॥

(पङ्कजवत्) कमल के समान (तज्जस्यापि) उससे उत्पन्न का भी (न तद्रूपता) वही रूप होना सिद्ध नहीं होता।

उत्तम उपदेश मलिन हृदय पर वैसा प्रभाव नहीं डालता जैसा शुद्ध हृदय पर। जिस प्रकार उत्तम कमल कीचड़ में पैदा होने के कारण उतना उत्तम नहीं होता; जैसा उसकी स्वाभाविक स्थिति है।

"न भूतियोगेऽपि कृतकृत्यतोपास्यसिद्धिवदुपास्यसिद्धिवत्" ॥ ३२ ॥

(न कृतकृत्यता) सफलता नहीं होती (भूतियोगेऽपि) ऊहादि सिद्धियों के प्राप्त होने पर भी (उपास्यसिद्धिवत) उपास्यों की सिद्धि के तुल्य।

जैसा उपास्य होगा, वैसी ही उपासक को सिद्धि प्राप्त होगी यदि सिद्धियों में ही मनुष्य रह गया तब भी वह विवेक ज्ञान तक नहीं पहुँच सकता। वह सिद्धियों में ही लिप्त हो जायगा। इसलिये यह समझना कि सिद्धियों की प्राप्ति से विवेक-ज्ञान हासिल हो जायगा, यह अशुद्ध है।

सिद्धिवत् सिद्धिवत् दो बार कहना अध्याय की समाप्ति का सूचक है।

❀ ओ३म् ❀

पंचम-अध्याय

इस अध्याय में उन मुख्य २ विषयों की विशेष व्याख्या है, जिनका वर्णन पूर्व अध्यायों में आ चुका है।

प्रथम अध्याय में प्रथम सूत्र में "अथ" शब्द से मङ्गलाचरण किया गया है। प्रतिवादी ने उसके विषय में आपत्ति उठाई है, कि मंगलाचरण करने से कोई लाभ नहीं; क्योंकि मनुष्य के जैसे कर्म होंगे; उसके अनुसार उसे फल मिलेगा ही। इसलिये मङ्गलाचरण करना व्यर्थ है। परन्तु कपिल मुनि कहते हैं कि ऐसा विचार अयुक्त है। मङ्गलाचरण अवश्य करना चाहिये; क्योंकि यह शिष्ट जनों का आचार है और प्रत्यक्ष में भी उसका फल दिखाई देता है। परन्तु मंगलाचरण के साथ शुभ कर्मों का करना भी आवश्यक है; तभी ही ईश्वर सहायक होते हैं।

एक नास्तिक प्रश्न करता है कि जैसे मेरे कार्य होंगे, उनके अनुसार मुझे उनका परिणाम मिलेगा। तब ईश्वर के मानने की क्या आवश्यकता है? कपिल मुनि उत्तर देते हैं, कि ऐसा मत कहो। क्योंकि जैसे संसार में पुरुष अपने उपकार के लिये फल देने वाला एक अलग नियुक्त करता है; इसी तरह ईश्वर भी सब के कर्म फल देने वाला एक अधिष्ठाता है।

"स्वोपकारादधिष्ठानं लोकवत्"

कर्म का फल अपने आप होता है, यदि ऐसा माना

जाय तो संसार में व्यवस्था न रहेगी, और उस अवस्था में संसार की सिद्धि नहीं हो सकेगी।

ईश्वर संसार की सिद्धि में एक प्रतिनियत कारण है। केवल प्रकृति आदि से संसार की सिद्धि नहीं हो सकती।

फिर प्रश्न होता है कि क्या इस सृष्टि का ईश्वर उपादान कारण है? कपिल मुनि उत्तर देते हैं कि ईश्वर सृष्टि का उपादान कारण नहीं है; क्योंकि ईश्वर को उपादान कारण मानने से—

"सत्तामात्राच्चेत् सर्वैश्वर्यम्"

इस संसार को भी चेतन और सम्पूर्ण ऐश्वर्यों से युक्त मानना पड़ेगा। परन्तु संसार तो अचेतन है। इसलिये ईश्वर इसका उपादान कारण नहीं हो सकता। दूसरा ऐसा कहीं प्रमाण नहीं मिलता, जिसमें ईश्वर को इस जगत् का उपादान कारण सिद्ध किया गया हो। ईश्वर इस सृष्टि का निमित्त कारण है।

यदि यह कहा जाय कि ईश्वर को अविद्या के योग से इस सृष्टि का निर्माण करने वाला माना गया है। कपिल मुनि कहते हैं कि यह अशुद्ध है। ईश्वर निःसंग है, इसलिये उसको अविद्या शक्ति का योग नहीं हो सकता।

"नाविद्याशक्तियोंगो निःसंगस्य"

यदि अविद्या के योग से संसार की सिद्धि मानी जाय, तब अन्योऽन्याश्रयत्व दोष होगा। अर्थात् विना ईश्वर के अविद्या संसार को नहीं बना सकती और न ही ईश्वर विना अविद्या के

संसार को बना सकता है। ऐसी अवस्था में ईश्वर सर्वशक्तिमान् नहीं ठहर सकता। और यदि अविद्या का अर्थ विद्या का अभाव है, तब ईश्वर भी जो विद्यामय है, इस विद्या के साथ रहने से अज्ञानी हो जायगा। यदि अविद्या का विद्या से बाध हो सकता है, तो इस जगत् का भी बाध होना चाहिये; क्योंकि यह जगत् अविद्या की उपज है। और यदि अविद्या को जगद्रूप मानें तो अविद्या अनादि नहीं रहेगी; जगत् सादि है। इसलिये अविद्या कोई वस्तु नहीं और न ही ईश्वर को अविद्या का योग है।

कपिल मुनि इसके पश्चात् धर्माधर्म पर अपने विचार प्रगट करते हैं। प्रश्न यह है कि यदि प्रकृति सुख दुःखादि की हेतु है, तो धर्माधर्म के मानने की क्या जरूरत है ? कपिल मुनि कहते हैं कि श्रुतियां धर्माधर्म के फलों को जाहिर करने वाली हैं। इसलिये धर्माधर्म का अपलाप नहीं हो सकता। वेदादिसच्छास्त्रों में जिस बात की विधि पाई जाती है वह धर्म है और इसके सिवाय अधर्म है। इस धर्माधर्म का सम्बन्ध अन्तःकरण से है, जीव से नहीं।

"अन्तःकरणधर्मत्वं धर्मादीनाम्"

परन्तु प्रश्न यह है कि प्रलयावस्था में जब अन्तःकरण नहीं रहता, उस समय धर्माधर्म कहां रहते हैं ? कपिल मुनि कहते हैं कि अन्तःकरण का नाश केवल उस समय होता है, जब मनुष्य मुक्त होता है; अन्यथा उसका नाश नहीं होता।

नास्तिक न तो धर्माधर्म को मानते हैं और न ही ईश्वर को।

उनके सन्मुख तो मुख्यतया प्रत्यक्ष प्रमाण है ।जो वस्तु प्रत्यक्ष नहीं, उसे वे अशुद्ध समझते हैं। कपिल मुनि कहते हैं कि प्रत्यक्ष प्रमाण के अतिरिक्त और भी प्रमाण हैं, जिनके द्वारा वस्तु की सिद्धि की जाती हैं । और वे प्रमाण—अनुमान प्रमाण और शब्द प्रमाण हैं। इसलिये अनुमान प्रमाण के विषय में वे अपनी स्थिति को सब से पूर्व स्पष्ट करते हैं।

जहां २ हम धूआं देखते हैं, वहां २ आग अवश्य होती है—इसका नाम अनुमान है। इससे यह ज्ञात हुआ कि धूआं विना आग के नहीं रह सकता। परन्तु आग विना धूएं के देखी जाती है; इससे स्पष्ट है कि धूएं का आग के साथ नियत धर्म साहित्य है। दो चीजों का एक समय एक स्थान पर इकट्ठा होना नियत धर्म साहित्य का द्योतक नहीं, प्रत्युत नियत धर्म साहित्य का यह मतलब है कि यदि एक न हो तो दूसरे का अनुमान न किया जावे। गन्ध और पृथ्वी का नियत धर्म साहित्य है, अर्थात् जहां गन्ध होगी, वहां पृथ्वी भी जरूर होगी और पृथ्वी जहां होगी वहां गन्ध अवश्य होगी। परन्तु यदि हम आग और घोड़े को इकट्ठा साथ देख लें तो उससे यह सिद्ध नहीं होता कि जहां घोड़ा होगा, वहां आग अवश्य होगी; क्योंकि कई स्थानों पर उन्हें इकट्ठा नहीं देखा जाता। इसलिये अनुमान उसी का हो सकता है, जिसका नियत धर्म साहित्य हो।

कई आचार्य यह मानते हैं

"निजशक्त्युद्भवमित्याचार्याः"

धूएं को देखकर अग्नि का ज्ञान जो प्राप्त किया जाता है, उससे स्पष्ट है कि धूआं आग की एक शक्ति का नाम है। इसलिये कई आचार्य यह कहते हैं कि वस्तु की विशेष शक्ति को ही व्याप्ति समझना चाहिये।

पञ्चशिखाचार्य के मत में जो आधेय शक्ति रहती है, उसी को ही व्याप्ति कहा गया है। आधार आग है, आधेय धूआं है—उसी को व्याप्ति कहते हैं।

परन्तु प्रतिवादी प्रश्न करता है कि आधार की स्वरूप शक्ति को ही व्याप्ति क्यों न मान लिया जाय ? कपिल मुनि कहते हैं कि ऐसा करना लाभदायक नहीं होगा; क्योंकि ऐसा करने से विशेषण देना ही व्यर्थ हो जायगा। यदि आग आधार है और धूआं उसकी स्वरूप शक्ति है और इसीको व्याप्ति माना जाय, तब बहुत धूएं वाली आग—ऐसा कहना नहीं हो सकेगा, या दूसरा झगड़ा खड़ा हो जायगा कि स्वरूप-शक्ति किसी आधार की नष्ट हो गई, तो अनुमान प्रमाण भी असिद्ध हो जायेगा। जैसे वृक्ष आधार है और उसकी स्वरूप शक्ति उसके पत्ते आदि अवयव हैं; पत्तों के नष्ट होने पर व्याप्ति का भी नाश मानना पड़ेगा। तब नास्तिक कहेगा कि अनुमान एक काल्पनिक प्रमाण है। इसलिये व्याप्ति का लक्षण वही है, जो आरम्भ में किया गया है।

इसके बाद कपिल मुनि अनुमान प्रमाण सिद्ध कर, शब्द प्रमाण की यथार्थता को बतलाते हैं। वे कहते हैं कि अर्थ शब्द

को कहा करता है, और अर्थ शब्द में कहा जाता है—इसी को ही शब्द और अर्थ का वाच्यवाचक भाव सम्बन्ध कहते हैं। इस सम्बन्ध की सिद्धि तीन प्रकार से होती है—

(१) आप्त के उपदेश से।

(२) वृद्धों के व्यवहार से।

(३) संसार में जो प्रसिद्ध बर्त्ताव में आने वाले शब्द हैं, उनके देखने से।

परन्तु प्रश्न यह है कि इस सम्बन्ध की सिद्धि सांसारिक बातों में होती है। वेद में जो शब्द हैं या अर्थ हैं, उनका ज्ञान कैसे हो? कपिल मुनि उत्तर देते हैं कि वेद के अर्थ भी वही कर सकता है, जो संसार के कार्यों में निपुण हो।

"लोके व्युत्पन्नस्य वेदार्थप्रतीतिः"

परन्तु नास्तिक कहता है कि जो वेद को मानते हैं, वे उसे अपौरुषेय मानते हैं; इसलिये उसका अर्थ इन्द्रियों से ज्ञात नहीं हो सकता; क्योंकि वेद इन्द्रियों की शक्ति से बाहर है। कपिल मुनि कहते हैं कि वेद का अर्थ अतीन्द्रिय नहीं। वेद से जो अर्थ किये जाते हैं उनका फल प्रत्यक्ष है। दूसरा अमुक शब्द का अर्थ अमुक है-यह शब्द की स्वाभाविक शक्ति है और विद्वानों की परम्परा से यह शक्ति वेद के अर्थ में चली जाती है। इसलिये वेद का अर्थ अतीन्द्रिय नहीं; वेद के अन्दर जो कर्तव्याकर्तव्य की व्याख्या है, उसका फल प्रत्यक्ष मिलता है।

फिर प्रश्न होता है कि क्या वेद नित्य हैं? नास्तिक कहता है

कि वेद नित्य नहीं हैं; क्योंकि श्रुति से मालूम होता है कि वेद उत्पन्न हुए हैं। कपिल मुनि उत्तर देते हैं—

"न पौरुषेयत्वं तत्कर्त्तुः पुरुषस्याभावात्"

वेद किसी पुरुष ने नहीं बनाए, क्योंकि उनका बनाने वाला दीखता नहीं है, इसलिये वेद अपौरुषेय हैं। यदि कोई कहे कि वेद के बनाने वाले मुक्त पुरुष थे, तो यह भी अशुद्ध है; क्योंकि मुक्त पुरुष में वह शक्ति नहीं रहती, जिससे वह बना सके और बद्ध जीव प्रत्यक्ष है और वेद में ऐसी बातें मालूम होती हैं, जो विना सर्वज्ञ के हो नहीं सकती।

प्रतिवादी फिर प्रश्न करता है कि यह आवश्यक नहीं जो वस्तु अपौरुषेय हो, वह नित्य भी हो; जैसे अंकुर किसी पुरुष का बनाया हुआ नहीं, परन्तु वह नित्य नहीं है प्रत्युत अनित्य है। इसी प्रकार वेद भी अनित्य हैं। कपिल मुनि कहते हैं कि वस्तु के बनाने और उत्पन्न होने में भेद है। वेद की उत्पत्ति है—वे घटादि की तरह बनाये नहीं गये। इसलिये वेद अपौरुषेय हैं और नित्य हैं।

अब पुनः कपिल मुनि यह बतलाना चाहते हैं कि वेद के शब्दों के अर्थ हैं और वे जाने जा सकते हैं। जो पदार्थ सत् है, उसका कभी बाध नहीं हो सकता। कपिल मुनि कहते हैं कि वेद का अर्थ अनिर्वचनीय है—ऐसा कहना भी अशुद्ध है, क्योंकि संसार में कोई पदार्थ अनिर्वचनीय नहीं दिखलाई देता। वेद के अर्थ को अन्यथाख्याति भी नहीं कह सकते।

अन्यथाख्याति कहते हैं उसको जिसमें पदार्थ तो दूसरा हो और अर्थ उसका दूसरी तरह किया जाय, जैसे सीप में चांदी का आरोप करना।

यदि ऐसा कहा जाय कि वेद का अर्थ है भी और नहीं भी; तो ऐसा कहना उन्मत्त पुरुषों की बातों की तरह है। इसलिये वेद के शब्द का अर्थ है और निश्चित है।

इसके पश्चात् कपिल मुनि अद्वैतवाद का खण्डन करते हैं। वे कहते हैं कि यह कहना आत्मा केवल एक ही है—अशुद्ध है। आत्माएँ तो अनेक हैं। जीवात्मा और परमात्मा में भेद स्पष्ट है—जीवात्मा अल्पज्ञ है और परमात्मा सर्वज्ञ है। यदि आत्मा की सत्ता मानी जाय और इसके अतिरिक्त कुछ न माना जाय, तो घटादि कार्यों को भी आत्मा मानकर उनके नाश होने पर आत्मा का भी नाश मानना पड़ेगा, जो प्रत्यक्ष के विरुद्ध है।

संसार में आत्मा और अनात्मा दो पदार्थ स्पष्ट दिखलाई देते हैं, इसलिये अद्वैतवाद मानना प्रत्यक्ष प्रमाण के भी विरुद्ध है। इसलिये जीवात्मा और परमात्मा में भेद होने के कारण, उनका एक होना सम्भव नहीं। जीवात्मा जो आनन्द प्राप्त करता है, वह बाहर से प्राप्त करने की वजह से सीमित है। सीमित होने से मुक्ति भी सान्त है ऐसा कपिल मुनि का आशय प्रतीत होता है। इसलिये मुनि कहते हैं—

"विमुक्तिप्रशंसा मन्दानाम्"

अविवेकी पुरुष के लिये ही सतत मुक्ति की प्रशंसा की है, अन्यथा मुक्ति सान्त है।

यह कहना कि विशेष गुणों के नाश से जीवात्मा मुक्त हो जाता है—यह अशुद्ध है। सत, रज और तम ये प्रकृति के गुण हैं। जब अल्पज्ञता के कारण जीवात्मा का इन गुणों से उपराग होता है, तभी वह दुःखी होता है। जब वह अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है, तभी वह मुक्त है। ब्रह्म लोक की प्राप्ति भी मुक्ति नहीं है; गमनागमन मन तथा इन्द्रियों द्वारा होता है। जीवात्मा जब मुक्त होता है, तब इन्द्रियां सब लुप्त हो जाती हैं। इसलिये उसका ब्रह्मलोक या किसी अन्य लोक में गमनागमन नहीं हो सकता। क्षणिकवादियों के मत में कोई स्थिर आत्मा नहीं। जो स्थिर आत्मा नहीं मानते उनके मत में स्थिर मुक्ति भी नहीं है। वह भी क्षणिक है, जो उपहासप्रद है। यदि क्षणिक-वादियों के मत में आत्मा का सर्वनाश ही उसकी मुक्ति समझी जाय, तो मुक्ति का लक्षण जो अत्यन्त पुरुषार्थ किया गया है—वह सार्थक नहीं रहता। शून्यवादी के मत में ज्ञानज्ञेयात्मक निखिल प्रपञ्च का नाश ही मुक्ति है—यह मत भी ठीक नहीं है। इसी प्रकार सांसारिक ऐश्वर्य की प्राप्ति को मुक्ति समझना भी ठीक नहीं; क्योंकि सब संयोग वियोग के अन्त तक रहते हैं जीवात्मा का अंश मानकर अंशी (परमात्मा) के साथ एक हो जाना भी मोक्ष नहीं है; क्योंकि योग वियोग अवश्य होगा। योग दर्शन में जो अणिमादि सिद्धियां हैं, उनके प्राप्त होने से भी मोक्ष नहीं है; क्योंकि उनका भी किसी दिन नाश अवश्य होगा। इसी प्रकार इन्द्रादि पद प्राप्त कर लेना भी मोक्ष नहीं

है। वैशेषिक दर्शन के ६ पदार्थों का तथा न्याय के १६ पदार्थों का ज्ञान भी मोक्ष नहीं दे सकता; क्योंकि पदार्थ असंख्य हैं। मोक्ष तो प्रकृति और पुरुष के यथार्थ बोध का नाम है। जब तक प्रकृति का सम्पूर्ण ज्ञान नहीं होता, तब तक मोक्ष नहीं हो सकता।

मोक्षावस्था में जीवात्मा का क्या स्वरूप होता है? कपिल मुनि कहते हैं—

"समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता"

जीवात्मा समाधि अवस्था में, सुषुप्ति और मोक्ष में ब्रह्मरूप हो जाता है। ब्रह्मरूपता का मतलब यह नहीं कि वह ब्रह्म हो जाता है; प्रत्युत उसका मतलब यह है कि ब्रह्म के गुणों का उस के अन्दर भान होता है। समाधि और सुषुप्ति में जो ब्रह्म रूपता होती है, उसमें बंध भी रहता है। परन्तु मोक्षावस्था में ब्रह्मरूपता बहुत काल तक रहती है और बंध का भी नाश हो जाता है। यह भेद समाधि और सुषुप्ति की ब्रह्मरूपता और मोक्ष की ब्रह्मरूपता में है। जिस प्रकार समाधि और सुषुप्ति का आनन्द प्रत्यक्ष दीखता है; इसी प्रकार मोक्ष का आनन्द भी प्रत्यक्ष दीखता है।

अब प्रश्न यह है कि समाधि में तो वैराग्य के कारण विषय वासनाओं का नाश हो जाता है; परन्तु सुषुप्ति में ऐसी अवस्था नहीं है। इसलिये उसमें ब्रह्म रूपता कैसे मानी गई है? कपिल मुनि उत्तर देते हैं—जैसे, वैराग्य में वासना कम होकर अपना प्रभाव नहीं दिखा सकती; इसी प्रकार निद्रा दोष के योग में भी वासना अपनी ओर नहीं खैंच सकती।

इस प्रकार मुक्ति का वर्णन कर अब एक और प्रश्न का उत्तर देते हैं। यदि जीवात्मा नित्य है, तो बुद्धि जो उस जीव के आश्रित है, वह भी नित्य होनी चाहिये। कपिल मुनि कहते हैं कि बुद्धि नित्य नहीं है; क्योंकि जीव और बुद्धि का सम्बन्ध परस्पर ऐसा है, जैसा कि स्फटिक और फूल का है। इसलिये प्रतिबिम्ब कहना चाहिये आश्रय नहीं।

कपिल मुनि योग की सिद्धियों को सत्य समझते हैं और उनके द्वारा मुक्ति को भी मानते हैं। परन्तु कई सिद्धियां समझ में नहीं आतीं कपिल मुनि उनको निम्न सूत्र से स्पष्ट करते हैं—

"योगसिद्धयोऽप्यौषधादिसिद्धिवन्नापलपनीयाः"

योग सिद्धियों का फल वैसा ही है, जैसा औषधियों का फल है, इसलिये उन्हें अशुद्ध न समझा जाय।

अन्त में कपिलाचार्य पुनः इस बात को स्पष्ट करते हैं कि केवल पुरुष ही चेतन है, शेष भूतादि सब अचेतन हैं। भूत न तो अलग अलग चेतन हैं और न ही उनका मेल चेतनता रखता है।

❀ ओ३म् ❀

पंचम-अध्याय

"मङ्गलाचरणं शिष्टाचारात्फलदर्शनाच्छ्रुतितश्चेति" ॥१॥

(शिष्टाचारात) शिष्टजनों का आचार होने के कारण (फलदर्शनात्) प्रत्यक्ष में इस का फल दीख जाने के कारण (श्रुतितश्च) और श्रुति में इसका प्रमाण है, इस कारण (मङ्गलाचरणम्) "अथ" शब्द से मंगलाचरण किया गया है।

पुस्तक के आदि में प्रथम सूत्र में जो "अथ" शब्द का प्रयोग किया है, वह मंगलाचरण का द्योतक है; क्योंकि शिष्ट पुरुषों का यही आचार है, प्रत्यक्ष में भी फल दीखता है और श्रुति में भी इस का विधान है।

"नेश्वराधिष्ठिते फलनिष्पत्तिः कर्मणा तत्सिद्धेः" ॥२॥

(ईश्वराधिष्ठिते) ईश्वर के अधिष्ठाता होने में (फलनिष्पत्तिः) फल की प्राप्ति है (कर्मणा) केवल कर्म से ही (न तत्सिद्धेः) फल की सिद्धि न होने से।

कर्मों से फल की सिद्धि नहीं होती है, क्यों कि वे जड़ हैं, उनका फल देने वाला ईश्वर है। इसीलिये उसे अधिष्ठाता स्वीकार करना आवश्यक है।

"स्वोपकाराद्धिष्ठानं लोकवत्"॥ ३ ॥

(स्वोपकारात्) जीवात्मा के उपकार के कारण (लोकवत्) लोक के समान (अधिष्ठानम्) ईश्वर को अधिष्ठाता मानना।

प्रतिवादी कहता है—जिस प्रकार संसार में राजा आदि प्रजा के हित के लिये अधिष्ठाता समझे जाते हैं, इसी प्रकार वह ईश्वर जीवात्मा के उपकार के लिये अधिष्ठाता माना जावे, तो क्या हर्ज है ?

"लौकिकेश्वरवदितरथा" ॥ ४ ॥

(लौकिकेश्वरवत्) लोक वाले ईश्वरों के सदृश (इतरथा) अन्यथा।

कपिल मुनि उत्तर देते हैं—ईश्वर को लौकिक राजा के साथ उपमा देनी उचित नहीं है; अन्यथा लौकिक राजा के समान वह भी अपूर्ण समझा जावेगा।

"पारिभाषिको वा" ॥ ५ ॥

और यदि ईश्वर को सब कर्मों का फल दाता न मानोगे, तो ईश्वर शब्द एक पारिभाषिक शब्द समझा जावेगा। वह केवल नाम मात्र का ईश्वर होगा।

टि०—इसलिये उपरोक्त पांच सूत्रों में यह सिद्ध किया गया है कि पुस्तक के प्रारम्भ करने के समय ईश्वर का मंगलाचरण करना आवश्यक है। केवल कर्म करने से ही फल नहीं मिलता, प्रत्युत ईश्वर को अधिष्ठाता मान कर उसकी कृपा की याचना करनी आवश्यक है।

अब आगे दूसरा विषय प्रारम्भ होता है।

"न रागादृते तत्सिद्धिः प्रतिनियतकारणत्वात्" ॥ ६ ॥

(रागादृते) राग के विना (न तत्सिद्धिः) उस सृष्टि की सिद्धि नहीं है (प्रतिनियतकारणत्वात्) क्योंकि (राग) इस सृष्टि का निश्चित कारण है।

इस सृष्टि के विकास में राग अथवा प्रवृत्ति मुख्य तथा निश्चित कारण है। प्रवृत्ति के विना सृष्टि का विकास नहीं हो सकता।

"तद्योगेऽपि न नित्यमुक्तः" ॥ ७ ॥

(तद्योगेऽपि) प्रवृत्ति के योग मान लेने पर भी (न नित्यमुक्तः) वह ईश्वर नित्य मुक्त नहीं समझा जावेगा।

यदि ईश्वर को इस सृष्टि का उपादान कारण माना जावेगा, तो, ईश्वर नित्यमुक्त नहीं समझा जावेगा; क्योंकि उपादान कारण मानने से उसमें रागादि की प्रवृत्ति माननी पड़ेगी, जो नित्यमुक्त में नहीं हो सकती।

"प्रधानशक्तियोगाच्चेत् संगापत्तिः" ॥ ८ ॥

(प्रधानशक्तियोगात्) प्रकृति की शक्ति के साथ सम्बन्ध (चेत्) यदि मान लिया जाय, तो (संगापत्तिः) संग की प्राप्ति होती है।

यदि ईश्वर प्रकृति की शक्ति का योग मान लिया जाय तो संग की प्राप्ति से अन्योऽन्याश्रय रहेगा। ईश्वर को किसी आश्रय की आवश्यकता नहीं।

"सत्तामात्राच्चेत् सर्वैश्वर्य्यम्" ॥ ९ ॥

(सत्तामात्रात्) सत्तामात्र से (चेत्) यदि ईश्वर माना जाय, तो (सर्वैश्वर्य्यम्) सब का ऐश्वर्य सिद्ध है।

यदि ईश्वर को इस जगत् का उपादानकारण माना जाय तो जो ईश्वर में गुण (सर्वज्ञादि) हैं, वे इस जगत् में भी होने चाहियें; परन्तु ऐसा देखने में नहीं आता। इसलिये ईश्वर इस सृष्टि का नैमित्तिक कारण है।

"प्रमाणाभावान्न तत्सिद्धिः" ॥ १० ॥

(प्रमाणाभावात्) प्रत्यक्ष प्रमाण के न होने से (न तत्सिद्धिः) ईश्वर को जगत् का उपादान कारण नहीं सिद्ध किया जा सकता।

प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा भी सिद्ध नहीं किया जा सकता कि ईश्वर इस जगत् का उपादान कारण है।

"सम्बन्धाभावान्नानुमानम्" ॥ ११ ॥

(सम्बन्धाभावात्) व्याप्ति के अभाव से (अनुमानम्) अनुमान प्रमाण द्वारा भी सिद्धि (न) नहीं हो सकती।

अनुमान प्रमाण द्वारा भी सिद्ध नहीं किया जा सकता कि ईश्वर जगत् का उपादान कारण है। क्योंकि बिना प्रयोजन के कोई कार्य नहीं होता और ईश्वर में प्रयोजन का अभाव है। ऐसी अवस्था में ईश्वर को उपादान कारण मानना व्यर्थ है।

"श्रुतिरपि प्रधानकार्यत्वस्य" ॥ १२ ॥

(श्रुतिरपि) श्रुति भी (प्रधानकार्यत्वस्य) प्रकृति से सृष्टि का होना मानती है।

श्रुति ने भी तथा शब्द प्रमाण ने भी प्रकृति को ही सृष्टि का उपादान कारण माना है तथा ईश्वर को निमित्त कारण माना है। यथा—

"अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वी प्रजाः सृजमानां स्वरूपाः, अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः" ॥

"नाऽविद्याशक्तियोगो निःसंगस्य"॥ १३ ॥

(निःसंगस्य) परमात्मा को जो (निस्संग है) (नाऽविद्याशक्तियोगः) अविद्या की शक्ति का योग नहीं है।

कई महानुभाव यह विचार रखते हैं, कि ईश्वर अविद्योपाधि से बन्धन में पड़ता है और उसी से यह संसार बना है। उपरोक्त सूत्र मे इसका खण्डन किया गया है और बतलाया गया है कि ईश्वर असंग है, उसका अविद्याशक्ति का योग नहीं हो सकता।

"तद्योगे तत्सिद्धावन्योऽन्याश्रयत्वम्" ॥ १४ ॥

(तद्योगे) उस अविद्या का साथ होने में (तत्सिद्धौ) उस को सिद्धि होने में (अन्योऽन्याश्रयत्वम्) परस्पर आश्रय होना है।

यदि अविद्या की शक्ति का योग ईश्वर में माना जावेगा और उससे सृष्टि की उत्पत्ति समझी जावेगी; तब ईश्वर को अविद्या पर आश्रित रहना पड़ेगा और अविद्या को ईश्वर पर, अर्थात् अन्योन्याश्रय मानना पड़ेगा। न केवल ईश्वर सृष्टि को उत्पन्न कर सकेगा और न ही अविद्या। इस अवस्था में ईश्वर

परिमित रूप वाला मानना पड़ेगा। ऐसा रूप ईश्वर का किसी भी मत को मान्य नहीं।

"न बीजाङ्कुरवत् सादिसंसारश्रुतेः"॥ १५ ॥

(सादिसंसारश्रुतेः) संसार को आदि वाला माना गया है, ऐसा श्रुति प्रमाण से सिद्ध होने से (बीजाङ्कुरवत् न) बीज और अंकुर की तरह सम्बन्ध नहीं है।

यदि यह कहा जाय कि अविद्या का परमात्मा से वही सम्बन्ध है, जो बीज और उसके अंकुर का है। अर्थात् बीज और अंकुर में से कौन पहले हुआ, यह कोई बतला नहीं सकता, इसी प्रकार अविद्या और परमात्मा दोनों अनादि हैं, इनका सम्बन्ध अनादि काल से है। कपिल मुनि कहते हैं कि ऐसा ख्याल करना अशुद्ध है, क्योंकि श्रुति में लिखा है—"विज्ञान-घन एवैभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यन्ति" ईश्वर ही इन भूतों से उठाकर अर्थात् उत्पन्न करके उन्हीं का फिर नाश करता है। अर्थात् जगत् अनादि नहीं है, प्रत्युत सादि है।

"विद्यातोऽन्यत्वे ब्रह्मबाधप्रसंगः"॥ १६॥

(विद्यातः) विद्या से (अन्यत्वे) अन्य होने में (ब्रह्मबाधप्रसंगः) ब्रह्म के नाश होने का प्रसंग है।

यदि "अविद्या" शब्द का अर्थ विद्या से विपरीत का है, तो ब्रह्म जो विद्यामय ज्ञान स्वरूप समझा जाता है, उसे अविद्या का आरोप कैसे हो सकता है ? वह अविद्या उसके स्वरूप के नाश का हेतु होगी।

"अबाधे नैष्फल्यम्" ॥ १७ ॥

(अबाधे) बाधा न होने में (नैष्फल्यम्) निष्फल है।

ब्रह्म का वास्तविक रूप विद्यामय है। यदि अविद्या भी उस के योग में रहे और यदि उस अविद्या का किसी प्रकार भी नाश नहीं हो सकता, तो विद्या का होना ही निष्फल है, दोनों वस्तुएं ईश्वर में इकट्ठी किस प्रकार रह सकती हैं, यह भी समझ में नहीं आता।

"विद्याबाध्यत्वे जगतोऽप्येवम्" ॥१८॥

(विद्याबाध्यत्वे) विद्या से बाधा (नाश) के योग होने पर (जगतोऽप्येवम्) जगत् का भी इसी प्रकार बाध होगा।

यदि विद्या से अविद्या का नाश हो जाता है, तो अविद्या से पैदा हुए जगत् का भी नाश होना चाहिये।

अब प्रश्न यह है कि जब सम्पूर्ण कार्यों की विचित्रता का हेतु प्रकृति है और सुख दुःखादि का हेतु भी यही है, तब धर्माधर्म मानने को क्या जरूरत है? इसका उत्तर कपिल मुनि निम्न सूत्र में देते हैं।

"तद्रूपेसादित्वम्" ॥ १९ ॥

(तद्रूपे) उसी के रूप होने में (सादित्वम्) सादि होना सिद्ध होगा।

यदि विद्या द्वारा अविद्या का नाश होना माना जाय, तो अविद्या अनादि नहीं समझी जायगी।

"न धर्मापलापः प्रकृतिकार्यवैचित्र्यात्" ॥२०॥

(प्रकृतिकार्यवैचित्र्यात्) प्रकृति के कार्यों की विचित्रता के कारण (धर्मापलापः) धर्म का अपलाप (मिथ्या-कथन) (न) नहीं हो सकता।

निस्सन्देह प्रकृति के कार्यों की विचित्रता नाना प्रकार के कर्मों का फल है। वह कर्म धर्माधर्म के अनुसरण से ही उत्पन्न हुए हैं। यद्यपि प्रत्यक्ष प्रमाण से यह सिद्ध नहीं किया जा सकता परन्तु अनुमान से सिद्ध किया जा सकता है कि धर्माधर्म मिथ्या वचन के द्योतक नहीं हैं। अन्यथा प्रकृति का विचित्र कर्मों को सिद्ध करना कठिन है।

"श्रुतिलिङ्गादिभिस्तत्सिद्धिः" ॥२१॥

(श्रुतिलिङ्गादिभिः) श्रुति प्रमाण आदि से भी (तत्सिद्धिः) उसकी सिद्धि है।

धर्माधर्म की सिद्धि श्रुति तथा योगियों के प्रत्यक्ष से ही हो सकती है।

"पुण्यो वै पुण्येन भवति पापः पापेन"

पुण्य निश्चय से ही पुण्य से होता है और यह भी स्पष्ट है कि पाप से पाप पैदा होता है इत्यादि, श्रुतियां भी धर्म के फल को कहती हैं। इसलिये धर्म का अपलाप नहीं हो सकता।

"न नियमः प्रमाणान्तरावकाशात्" ॥२२॥

(प्रमाणान्तरावकाशात्) अन्य प्रमाणों के मौजूद होने से (न नियमः) यह नियम नहीं है।

जो बात प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध न हो, तो उससे यह परिणाम नहीं निकल सकता कि वह बात ही अशुद्ध हो। प्रमाण अन्य भी हैं, यथा-अनुमान प्रमाण है तथा शब्द प्रमाण है। इनसे भी सिद्ध है कि धर्माधर्म मिथ्या नहीं है।

"उभयत्राप्येवम्" ॥२३॥

दोनों में इसी प्रकार से है।

धर्म को जिस प्रकार अनुमान तथा शब्द प्रमाण से सिद्ध किया गया है; इसी प्रकार अधर्म को भी सिद्ध किया जा सकता है।

"अर्थात सिद्धिश्चेत समानमुभयोः" ॥२४॥

(अर्थात्) अर्थ से (सिद्धिः) सिद्धि (चेत्) यदि मानी जाय तो (उभयोः) दोनों का (धर्माधर्म) (समानम्) बराबर प्रमाण है।

जो वेद विहित कर्म हैं, वे धर्म हैं और जो उसके विपरीत हैं, वे अधर्म हैं। अर्थापत्ति से अधर्म की सिद्ध होती है। परन्तु केवल अर्थापत्ति से अधर्म की सिद्धि करना पर्याप्त नहीं है। जिस प्रकार धर्म के सिद्ध करने में प्रमाण हैं; इसी प्रकार अधर्म के बतलाने में भी श्रुति प्रमाण है; यथा "परदारान्नगच्छेत्" पर स्त्री के पास गमन न करे इत्यादि श्रुति वाक्य प्रमाण हैं।

"अन्तःकरणधर्मत्वं धर्मादीनाम्" ॥२५॥

(धर्मादीनाम्) धर्मादियों का (अन्तःकरणधर्मत्वम्) अन्तःकरण धर्मत्व है।

धर्म और अधर्म का अन्तःकरण के साथ सम्बन्ध है। धर्म अधर्म, सुख, दुःख तथा रागद्वेषादि अन्तःकरण के धर्म हैं, आत्मा के धर्म नहीं।

अब प्रश्न यह है कि अन्तःकरण प्राकृतिक वस्तु है, इसलिये विनाशी है। ऐसी अवस्था में धर्माधर्म स्वयं नष्ट हो जायेंगे। इसलिये उनको अधिक महत्व देने की आवश्यकता नहीं।

कपिल मुनि उत्तर देते हैं कि अन्तःकरण का नाश उस समय होगा जब मनुष्य मुक्त हो जायेगा। जब तक मुक्ति नहीं होती, तब तक उसका योग अनिवार्य है। अन्तःकरण कार्यकारण भाव दोनों रूप को धारण करता है, इसलिये अन्तःकरण में धर्म और अधर्म के संस्कार मौजूद रहते हैं।

"गुणादीनाञ्च नात्यन्तबाधः" ॥२६॥

(गुणादीनाम्) गुण आदि का (च) और (नात्यन्तबाधः) अत्यन्त नाश नहीं है।

प्रकृति के गुण, (सत्व, रज और तमादि) प्रकृति के धर्म (सुखादि) प्रकृति के कार्य (महत्वादि) का सर्वथा सर्वनाश नहीं होता; प्रत्युत संसर्ग के रहने से चेतन में गुणादि का अभाव है। जैसे जल का स्वाभाविक गुण शीतलता है; परन्तु इस गुण का नाश समझा जाता है, जब जल गरम किया जाता है। वस्तुतः उस गुण का नाश नहीं हुआ, प्रत्युत उसका अभाव प्रतीत होता है। इसी प्रकार जब आत्मा को अपना साक्षात्कार हो जाता है, तब ये प्रकृति के गुण, धर्म और कार्य नष्ट हुए प्रतीत होते हैं। उस

आत्मा के लिये इनका प्रयोजन नहीं रहा, इसलिये इनका नाश समझा गया है। वस्तुतः इनका सर्वथा नाश नहीं हुआ।

"पञ्चावयवयोगात् सुखसंवित्तिः" ॥२७॥

(पञ्चावयवयोगात्) पञ्च अवयवों के मेल से (Syllogision) (सुखसंवित्तिः) सुख की उपलब्धि अथवा सिद्धि होती है।

न्याय शास्त्र के अनुसार किसी पदार्थ को सिद्ध करने के लिये पञ्चावयव का अवलम्बन करना आवश्यक है। वे पांच अवयव निम्न हैं—

१. प्रतिज्ञा—सुख सत् है, यह प्रतिज्ञा है (Hypothen)
२. हेतु—क्योंकि सुख प्रयोजन क्रियाकारी है; इसे हेतु कहते हैं।
३. उदाहरण—जसे चेतन, प्रयोजन की क्रियाओं का कर्ता है, वैसे सुख भी है, यह उदाहरण है।
४. उपनय—जब सुख होता है, तब रोंगटे खड़े हो जाते हैं, यह उपनय है।
५. निगमन—इसलिये सुख सत् है, इसे निगमन कहते हैं।

इन पञ्चावयवों से अनुमान द्वारा सिद्ध किया जा सकता है कि सुख सत् है। इसी प्रकार अन्य गुणों को भी सिद्ध किया जा सकता है, कि उनके स्वरूप का सर्वथा नाश नहीं हो सकता। उनका आत्मा के साक्षात्कार होने पर लोप सा प्रतीत होता है। परन्तु उनका सर्वथा नष्ट हो जाना न्यायाचार्य को अभीष्ट नहीं।

अब इस अनुमान प्रमाण पर नास्तिक निम्न शंका करते हैं—

"न सकृद्ग्रहणात्सम्बन्धसिद्धिः"॥२८॥

(सकृद्ग्रहणात्) एक बार सदाचार के ग्रहण से (न सम्बन्धसिद्धिः) व्याप्ति की सिद्धि नहीं होती।

नास्तिक कहता है कि यह ख्याल करना कि जहां धूवां होगा वहां आग अवश्य होगी, ऐसा अनुमान करना ठीक नहीं; क्योंकि कई बार धूएं के बिना भी आग को देखा गया है। यह आवश्यक नहीं कि दो चीजें एक समय एक ही स्थान पर दीखती हों, तो वे व्याप्य व्यापक भाव से सम्बन्धित हो जावें; जैसे मैंने अग्नि और घोड़े को एक समय में एक ही स्थान पर इकट्ठे देखा। इससे यह परिणाम नहीं निकाला जा सकता कि जहां घोड़ा होगा, वहां आग अवश्य होगी या जहां आग होगी वहां घोड़ा अवश्य होगा। इस वास्ते इस प्रकार अनुमान करना अयुक्त है। केवल प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा ही वस्तुओं की सिद्धि हो सकती है।

उत्तर—

"नियतधर्मसाहित्यमुभयोरेकतरस्य वा व्याप्तिः"॥२९॥

(नियतधर्मसाहित्यम्) नियत धर्म का साथ होना (उभयोः) दोनों का (वा) अथवा (एकतरस्य) एक का (व्याप्तिः) उसे व्याप्ति कहते हैं।

नास्तिक ने व्याप्ति के अर्थ अशुद्ध समझे हैं। केवल दो वस्तुएं अचानक इकट्ठे या एक स्थान पर हो जाने से व्याप्ति का लक्षण नहीं हो जाता, प्रत्युत उन दोनों पदार्थों में एक का या दोनों का जो नियत धर्म है, उस साथ रहने के नियम को व्याप्ति कहते हैं। जैसे, मैंने पहाड़ पर धूवां देखा, तो मैंने अनुमान लगाया कि वहां आग है। जहां धूवां होता है, वहां आग भी जरूर होती है। धूवां बिना आग के नहीं रह सकता। इसलिये धूएं और आग का नियतधर्मसाहित्य है। परन्तु आग और घोड़े में नित्यधर्मसाहित्य नहीं है। यह आवश्यक नहीं कि जहां घोड़ा हो, वहां आग जरूर होगी या आग जहां हो वहां घोड़ा अवश्य होगा। पृथ्वी का नियतधर्मसाहित्य गन्ध है। जल का नियतधर्मसाहित्य रस है। जहां पृथ्वी होगी वहां गन्ध जरूर होगा और जहां जल होगा वहां रस भी अवश्य होगा।

"न तत्वान्तरं वस्तुकल्पनाप्रसक्तेः" ॥३०॥

(वस्तुकल्पनाप्रसक्तेः) वस्तु की कल्पना के प्रसङ्ग से (तत्वान्तरं) भिन्न तत्व नहीं है।

कपिल मुनि कहते हैं कि नियतधर्मसाहित्य के बिना व्याप्ति की कोई और कल्पना नहीं की जा सकती; अर्थात् किसी और चीज का नाम व्याप्ति नहीं है।

"निजशक्त्युद्भवमित्याचार्याः" ॥३१॥

(निजशक्त्युद्भवम्) व्याप्य की अपनी शक्ति से उत्पन्न ही व्याप्ति है (इत्याचार्याः) कई आचार्य ऐसा मानते हैं।

कई आचार्य यह मह मानते हैं कि आग व्याप्य है। इसकी शक्ति से धूआं पैदा होता है और वह आग की किसी विशेष शक्ति का रूप है। इस तरह के पदार्थ को ही व्याप्ति कहते हैं।

"आधेयशक्तियोग इति पञ्चशिखः" ॥३१॥

पञ्चशिखाचार्य मानते हैं कि आधेयशक्ति का योग व्याप्ति है।

आग आधार है और धूवां उसमें आधेय है अर्थात् धूवां उसमें रहता है। इस आधेय को ही व्याप्ति कहते हैं।

"न स्वरूपशक्तिर्नियमः पुनर्वादप्रसक्तेः" ॥३३॥

(पुनर्वादप्रसक्तेः) फिर झगड़ा हो जाने के कारण (न स्वरूपशक्तिर्नियमः) स्वरूपशक्ति को व्याप्ति नहीं मान सकते।

आधार जो आग है, उसकी स्वरूपशक्ति को व्याप्ति मानना ठीक नहीं है, क्योंकि इससे झगड़ा बढ़ेगा।

"विशेषणानर्थक्यप्रसक्तेः"॥३४॥

विशेषण के अनर्थक होने के प्रसंग से।

यदि आग की स्वरूपशक्ति को ही व्याप्ति मान लिया जाय, तब मैं केवल आग की स्वरूपशक्ति "धूआं" ऐसा कह सकता हूँ। परन्तु "बहुत धुएं वाली आग" ऐसा मैं प्रयोग नहीं कर सकता। धूएं को मैं विशेषण नहीं दे सकता; क्योंकि वह विशेषण आग की स्वरूपशक्ति नहीं है।

"पल्लवादिष्वनुपपत्तेश्च"॥३५॥

(पल्लवादिषु) पत्तों आदि में (अनुपपत्तेः) सिद्ध न होने से (च) और।

यदि किसी वस्तु की स्वरूप शक्ति को ही व्याप्ति मान लिया जायेगा। तो झगड़ा बढ़ेगा। एक वृक्ष है। पत्ते उसकी स्वरूप शक्ति हैं। पत्तों की व्याप्ति मान कर हम वृक्ष का अनुमान करते हैं। यदि पत्ते झड़ जायें या काट दिये जावें, तो स्वरूप शक्ति का नाश होने से व्याप्ति का भी नाश होगया। व्याप्ति के नाश का मतलब वृक्ष का अनुमान न कर सकना है। इस लिये स्वरूप शक्ति को ही व्याप्ति मान कर अनुमान करना उचित नहीं।

"आधयेशक्तिसिद्धौ निशजक्तियोगः समान-
न्यायात्" ॥३६॥

(आधेयशक्तिसिद्धौ) आधेय शक्ति को व्याप्ति मानने में (निजशक्ति-योगः) निज शक्ति का योग (समानन्यायात) समान न्याय से सिद्ध है।

आधेय शक्ति और निज शक्ति को व्याप्ति मान कर अनुमान करना युक्ति युक्त प्रतीत होता है। परन्तु स्वरूप शक्ति को व्याप्ति मान कर अनुमान करना युक्ति युक्त प्रतीत नहीं होता।

अब शब्द प्रमाण के विषय में कपिल मुनि अपना मत प्रगट करते हैं।

"वाच्यवाचकभावः सम्बन्धः शब्दार्थयोः" ॥३७॥

(शब्दार्थयोः) शब्द और अर्थ का (सम्बन्धः) परस्पर सम्बन्ध (वाच्यवाचकभावः) वाच्य और वाचक भाव का बतलाने वाला है।

शब्द अर्थ को प्रगट करता है और अर्थ शब्द द्वारा प्रगट किया जाता है। यही शब्द और अर्थ का सम्बन्ध है। इसे वाच्य वाचक सम्बन्ध कहते हैं।

"त्रिभिः सम्बन्धसिद्धिः"॥३८॥

(सम्बन्धसिद्धिः) शब्द और उसके अर्थ के सम्बन्ध की सिद्धि (त्रिभिः) तीन प्रकार से होती है।

शब्द और उसके अर्थ के सम्बन्ध की सिद्धि तीन प्रकार से होती है।

१. पूर्ण विद्वान् के उपदेश से।

२. वृद्धों के व्यवहार से।

३. संसार में जो प्रसिद्ध बर्त्ताव में आने वाले पद हैं, उनके देखने से।

"न कार्ये नियम उभयथा दर्शनात्" ॥ ३६ ॥

(उभयथा दर्शनात्) दोनों प्रकार देखने से (कार्ये) कार्य में (न नियमः) नियम नहीं है।

शब्द शक्ति का प्रभाव केवल कार्य में नहीं है, प्रत्युत उसका प्रभाव अकार्य में भी है; जैसे, "गाय ले आओ" और "उसके लड़का पैदा हुआ है" ये दो वाक्य कार्य और अकार्य के द्योतक हैं।

गाय ले आओ-यह कार्यावस्था को जाहिर करता है। उसके लड़का पैदा हुआ है—यह कार्य तो पूर्व हो चुका था। यह वाक्य इस समय अकार्यावस्था को जाहिर करता है। ऋषि का आशय

यह प्रतीत होता है कि शब्द शक्ति का प्रभाव केवल वर्तमानकाल को ही प्रगट नहीं करता, प्रत्युत भूतकाल के कार्यों पर भी इसका प्रभाव है।

अब प्रश्न यह है कि वेद के जो शब्द हैं, उनका ज्ञान कैसे हो; क्योंकि वे किसी भी काल के द्योतक नहीं ? इसका उत्तर ऋषि निम्न सूत्र में देते हैं—

"लोके व्युत्पन्नस्य वेदार्थप्रतीतिः" ॥ ४० ॥

(लोके) लोक में (व्युत्पन्नस्य) निपुण पुरुष को (वेदार्थप्रतीतिः) वेद के अर्थ की प्रीति होती है।

जो पुरुष लोक व्यवहार में निपुण हैं, वे ही वेद के अर्थ को सम्यक्तया जान सकते हैं।

"न त्रिभिरपौरुषेयत्वाद्वेदस्य तदर्थस्यातीन्द्रियत्वात्" ॥४१॥

(त्रिभिः) आप्तोपदेश, वृद्ध व्यवहार तथा प्रसिद्ध पद इन तीनों से (वेदस्य) वेद के (तदर्थस्य) उसके अर्थों के (अतीन्द्रियत्वात्) अतीन्द्रिय होने के कारण (न) नहीं कहा जा सकता।

शब्द प्रमाण से भी वेद के शब्दों का अर्थ ठीक तरह समझ नहीं आ सकता; क्योंकि वेद अपौरुषेय हैं और अतीन्द्रिय हैं।

"न यज्ञादेः स्वरूपतो धर्मत्वं वैशिष्ट्यात्" ॥४२॥

(न) ऐसा नहीं है (वैशिष्ट्यात्) प्रकृष्ट फल पैदा करने वाले होने से (यज्ञादेः) यज्ञादि से (स्वरूपतः) स्वरूप से (धर्मत्वम्) धर्म होना विदित होता है।

कपिल मुनि कहते हैं कि वेद के अर्थ अतीन्द्रिय नहीं हैं, क्योंकि वेद द्वारा जो यज्ञादि किये जाते हैं, उनका फल और उनकी क्रियाएं सब सम्यक् प्रकार से समझ में आती हैं और प्रत्यक्ष हैं; जैसे—

"यज्ञाद्भवति पर्जन्यः पर्जन्यादन्नसम्भवः"

यज्ञ से मेघ होता है और मेघ से अन्न पैदा होता है। अर्थात यज्ञों का फल स्पष्ट है।

"निजशक्तिव्युत्पत्त्या व्यवच्छिद्यते" ॥ ४३ ॥

(निजशक्तिव्युत्पत्त्या) शब्द में अर्थ की स्वाभाविक शक्ति के जान लेने से (व्यवच्छिद्यते) उपदेश किया जाता है।

अब प्रश्न यह है कि वेद अपौरुषेय है, तो वेद का अर्थ कैसे जाना जाय ? इसका अर्थ यह है कि शब्द में अर्थ देने की स्वाभाविक शक्ति मौजूद है। विद्वानों की परम्परा से वह शक्ति वेद के अर्थ में चली आती है। गुरुवर परम्परा से अपने शिष्यों को उनके अर्थ बतलाते आ रहे हैं।

"योग्यायोग्येषु प्रतीतिजनकत्वात् तत्सिद्धिः" ॥४४॥

(योग्यायोग्येषु) उचित तथा अनुचित कार्यों की व्यवस्था में (प्रतीतिजनकत्वात्) प्रतीति पैदा कर देने से (तत्सिद्धिः) उसकी सिद्धि है।

वेद में कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निश्चय स्पष्ट रूप से विदित है। उसी से यह स्पष्ट है कि वेद के अपौरुषेय होते हुए भी मनुष्य से मनुष्य सम्यक्तया अवगत किये जा सकते हैं।

प्रश्न—

"न नियतत्वं वेदानां कार्यत्वश्रुतेः" ॥४५॥

(वेदानाम्) वेदों का (कार्यत्वश्रुतेः) पैदा होना श्रुति प्रमाण से सिद्ध है (न नियतत्वम्) नित्यता नहीं है।

अब नास्तिक प्रश्न करता है कि वेद नित्य नहीं है; क्योंकि श्रुति द्वारा यह सिद्ध है कि वे पैदा हुए हैं; जैसे—

"तस्माद् यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे"

उस यज्ञ रूप परमात्मा से ऋग्वेद तथा सामवेद उत्पन्न हुए।

"न पौरुषेयत्वं तत्कर्त्तुः पुरुषस्याभावात्" ॥४६॥

(तत्कर्तुः) वेद के कर्त्ता (पुरुषस्याभावात्) पुरुष के अभाव से (न पौरुषेयत्वम्) पौरुषेय नहीं है।

वेद किसी मनुष्य के बनाए हुए नहीं हैं; क्योंकि ऐसे पुरुष का अभाव है, जिसकी बाबत यह कहा जा सके कि उस पुरुष ने बनाए हैं; इसलिये वेद अपौरुषेय हैं। किसी पुरुष द्वारा नहीं बनाए गये, प्रत्युत ईश्वर के बनाए हुए हैं। ईश्वर नित्य है, इसलिये उसकी बनाई हुई वस्तु भी नित्य है।

"मुक्तामुक्तयोरयोग्यत्वात्" ॥४७॥

(मुक्तामुक्तयोः) मुक्त और अमुक्त के (अयोग्यत्वात्) अयोग्य होने से।

वेद की उत्पत्ति न तो मुक्त जीवात्मा से हो सकती है और न ही बद्ध जीवात्मा से; क्योंकि बद्ध जीवात्मा अल्पज्ञतादि दोषों

से युक्त होता है, इसलिये वह वेद बनाने में असमर्थ हैं और मुक्त जीवात्मा निस्संग हो जाने से शक्ति नहीं रख सकता कि वह वेद की रचना कर सके। इसलिये वेद किसी भी मनुष्य के बनाए हुए नहीं हैं, प्रत्युत ईश्वर द्वारा रचे गये हैं।

प्रश्न—

"नापौरुषेयत्वान्नित्यत्वमङ्कुरादिवत्" ॥४८॥

(अपौरुषेयत्वात्) अपौरुषेय होने से (अङ्कुरादिवत्) अङ्कुरादि की तरह (न नित्यत्वम्) नित्यता नहीं है।

वेद अपौरुषेय है, इसलिये नित्य है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। जिस प्रकार अङ्कुर किसी पुरुष का बनाया हुआ नहीं है; इसी प्रकार वेद के विषय में भी युक्ति दी जा सकती है। वेद किसी पुरुष के बनाए हुए नहीं हैं; परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं हो सकता कि वे नित्य हैं ?

उत्तर—

"तेषामपि तद्योगे दृष्टबाधादिप्रसक्तिः" ॥४९॥

(तेषामपि) उनका भी (तद्योगे) उसके साथ योग होने में (दृष्टबाधादिप्रसक्तिः) दृष्ट की बाधा होने का प्रसंग है।

यदि वेदों को पौरुषेय माना जाय, तो उस पुरुष का जन्म-मरणादि भी अवश्य हुआ होगा। परन्तु वेद बनाने वाला और उपादान कारण कोई नहीं दीखता। इस कारण वेद नित्य हैं। यदि नित्य न माना जावेगा तो प्रत्यक्ष से विरोध हो जायगा।

पौरुषेय और अपौरुषेय किसे कहते हैं ? ऋषि इसे स्पष्ट करते हैं।

"यस्मिन्नदृष्टेऽपि कृतबुद्धिरुपजायते तत्पौरुषेयम्" ॥५०॥

(यस्मिन्नदृष्टेऽपि) कर्ता अप्रत्यक्ष होने पर भी (कृतबुद्धिरुपजायते) बनाने वाले की बुद्धि उत्पन्न होती है (तत्पौरुषेयम्) उसे पौरुषेय कहते हैं।

चाहे कर्त्ता न दिखालाई देता हो; परन्तु यह ज्ञान स्पष्ट हो कि इसका बनाने वाला कोई जरूर है, इसे ही पौरुषेय कहते हैं; जैसे घड़ा। घड़े का बनाने वाला हमें दिखलाई नहीं दे रहा है, परन्तु यह निश्चित् है कि इसका बनाने वाला कोई है। इसलिये यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि घड़ा पौरुषेय है। परन्तु बीज या वृक्षों के विषय में ऐसा अनुमान नहीं किया जा सकता।

इसी प्रकार वेदों के देखने से यह स्पष्ट है कि इनका बनाने वाला कोई पुरुष नहीं हो सकता, इसलिये वेद अपौरुषेय हैं।

वेद स्वतः प्रमाण हैं—

"निजशक्त्यभिव्यक्तेस्स्वतः प्रामाण्यम्" ॥५१॥

(निजशक्त्यभिव्यक्तेः) अपनी शक्ति की प्रकटता से (स्वतः-प्रामाण्यम्) (वेद) स्वतः प्रमाण हैं।

वेद स्वतः प्रमाण हैं; क्योंकि वेदों की शब्द-शक्ति ही से उनके अर्थ प्रतीत होते हैं, जैसे, तोलने के जो बाट हैं, वे स्वतः

प्रमाण हैं। उनके विषय में यह नहीं कहा जाता है कि ये क्यों प्रमाण हैं।

इसी प्रकार वेद वाक्य स्वतः प्रमाण हैं; क्योंकि वेदों से सब विद्याओं का प्रकाश होता है।

"नासतःख्यानम् नृश्रृङ्गवत्" ॥५२॥

(नृश्रृङ्गवत्) मनुष्य के सींग के समान (नासत:ख्यानम्) असत् का ज्ञान नहीं हो सकता।

जो चीज अपनी स्थिति ही नहीं रखती, उसका ज्ञान होना असम्भव है। मनुष्य के सींग नहीं होते, तो उसका कहना ही व्यर्थ है। यदि वेदों का भी कुछ अर्थ न होता, तो अनेक महात्मा वेदों का उपदेश अपने शिष्यों को परम्परा से क्योंकर देते चले आये हैं। दूसरे शब्दों में जो सत् है, उसी का ज्ञान मनुष्य को हो सकता है, जो है ही नहीं उसका ज्ञान कैसे हो सकता है। इसलिये स्पष्ट है कि वेद असत् नहीं हैं, प्रत्युत सत् हैं; क्योंकि उनके अर्थों के बोध से अनेक विद्याओं का प्रकाश हुआ है।

"न सतो बाधदर्शनात्" ॥५३॥

जो वस्तु सत् है, उसका बाध नहीं दिखलाई देता।

वेद सत् हैं, इसलिये उनका यथार्थ अर्थ भी हो सकता है।

"नानिर्वचनीयस्य तदभावात्" ॥५४॥

(नानिर्वचनीयस्य) अनिर्वचनीय का भाव नहीं है (तदभावात्) उसके अभाव से।

ऐसा कहना कि वेद का अर्थ अनिर्वचनीय है—ठीक नहीं; क्योंकि संसार में ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो अनिर्वचनीय हो।

"नान्यथाख्यातिः स्ववचो व्याघातात्" ॥५५॥

(स्ववचो व्याघातात्) अपने वचन के व्याघात से (नान्यथाख्यातिः) अन्यथा ख्याति भी नहीं है।

यह कहना कि अन्य पदार्थ अन्य रूप से भासता है—अपने ही वचन का व्याघात है! वेदों की बाबत यह कहना कि इसके शब्दों के आन्तरीय अर्थ और हैं और संसार में उनका भाव और प्रकार से ज़ाहिर है—अयुक्ति युक्त है और अपने ही वचनों का खण्डन करना है।

"सदसत्ख्यातिर्बाधाबाधात्" ॥५६॥

(सदसत्ख्यातिः) यह कहना कि यह चीज है भी और नहीं भी (बाधाऽबाधात्) बाध और अबाध होने से।

यह कहना कि एक वस्तु है भी और नहीं भी—सर्वथा अयुक्त है। वेद के विषय में यह कहना कि जो पुरुष संसार के कार्यों में चतुर है, उसके लिये वेद सत् हैं और जो चतुर नहीं है, उसके लिये वेद असत् हैं—यह सर्वथा उपहासप्रद है। वेद और उसका अर्थ प्रत्येक अवस्था में अपनी स्थिति रखता है।

"प्रतीत्यप्रतीतिभ्यां न स्फोटात्मकः शब्दः" ॥५७॥

(प्रतीत्यप्रतीतिभ्यां) प्रतीति और अप्रतीति दोनों होने से (शब्दः)

शब्द् (न स्फोटात्मकः) आवश्यक रूप से अर्थ को ज़ाहिर करने वाला नहीं है।

यह आवश्यक नहीं कि शब्द अवश्य ही अर्थ को ज़ाहिर करने वाला हो। शब्द का सापेक्षिक महत्त्व है। जिस व्यक्ति को उसके अर्थ भासते हैं, उसके लिये शब्द स्फोटात्मक है और जिसको उसके अर्थ नहीं भासते उसके लिये वह शब्द स्फोटात्मक नहीं है। The word (शब्द) has a relative significance.

"न शब्द नियतत्वं कार्यताप्रतीतेः" ॥५८॥

(कार्यता प्रतीतेः) कार्य होने की प्रतीति से (न शब्दनियतत्वम्) शब्द नित्य नहीं है।

जो कार्य है, वह नित्य नहीं हो सकता। जब उस शब्द का प्रयोजन सिद्ध हो गया, तब उसकी आवश्यकता नहीं रही। इसलिये वह नित्य नहीं।

"पूर्वसत्त्वस्याऽभिव्यक्तिर्दीपेनेव घटस्य" ॥५९॥

(दीपेनेव घटस्य) दिये से घट के समान (पूर्वसत्त्वस्य) पूर्व सिद्ध सत्व को (अभिव्यक्तिः) प्रगट करता है।

जो शब्द पहले ही से सिद्ध है, केवल उच्चारण करने से उसको प्रगट किया जाता है। जिस प्रकार अन्धेरे में पड़ा हुआ घड़ा दीये द्वारा दिखलाई देता है, इसी प्रकार उच्चारण द्वारा शब्द प्रकाशित होता है, प्रत्युत पैदा नहीं होता।

"सत्कार्यसिद्धान्तश्चेत्सिद्धसाधनम्" ॥६०॥

(सत्कार्यसिद्धान्तश्चेत्) यदि उसी चीज को सत माना जाय जो कार्य में दिखलाई देती है (सिद्धसाधनम्) तब उसे सिद्धसाधन का नाम दिया जायगा।

यदि शब्द को कार्यरूप समझा जाय, तब जिस कार्य के लिये वह शब्द प्रयुक्त हुआ है, उस कार्य में वह शब्द सत् समझा जावेगा। उस अवस्था में उसे सिद्ध साधन मानेंगे।

"नाद्वैतमात्मनो लिङ्गात्तद्भेदप्रतीतेः" ॥६१॥

(आत्मनोलिङ्गात्) आत्मा के चिह्न से (तद्भेदप्रतीतेः) उसके भेद की प्रतीति होने से (नाद्वैतम्) अद्वैत नहीं है।

यह कहना कि आत्मा केवल एक ही है—अशुद्ध है। जीवात्मा और परमात्मा में भेद स्पष्ट है। जीवात्मा अल्पज्ञ है और परमात्मा सर्वज्ञ है। ईश्वर अन्तर्यामी है और जीवात्मा ऐसा नहीं है। इन चिन्हों के भेद से स्पष्ट है कि अद्वैतवाद अशुद्ध है।

"नानात्मनापि प्रत्यक्षबाधात्" ॥६२॥

(अनात्मनापि) अनात्मा से भी (प्रत्यक्षबाधात) प्रत्यक्ष बाधा होने से (न) (अद्वैत) सिद्ध नहीं हो सकता।

यदि केवल एक आत्मा की सत्ता मानी जाय और इसके अतिरिक्त और कुछ न माना जाय, तो घटादि कार्यों को भी आत्मा मानकर उनके नाश होते ही आत्मा का भी नाश मानना पड़ेगा। यह प्रत्यक्ष के विरुद्ध है, क्योंकि आत्मा न कभी पैदा होती है और न ही कभी मरती है।

"नोभाभ्यां तेनैव" ॥६३॥

(तेनैव) इस हेतु से (नोभाभ्याम्) दोनों से अद्वैत सिद्ध नहीं हो सकता।

संसार में आत्मा और अनात्मा ये दो पदार्थ जुदा २ प्रत्यक्ष रूप से दिखलाई देते हैं। ऐसी अवस्था में अद्वैत मानना प्रत्यक्ष प्रमाण के भी अनुकूल नहीं है।

"अन्यपरत्वमविवेकानां तत्र" ॥६४॥

(तत्र) इन श्रुतियों में (अन्यपरत्वम्) अद्वैतवाद (अविवेकानाम्) अविवेकी को।

प्रश्न यह है कि "एकमेवाऽद्वितीयं" "ब्रह्म आत्मैवेदं सर्वम्" का क्या अर्थ किया जावे ? इन श्रुतियों में स्पष्ट अद्वैतवाद दिखलाई देता है। कपिल मुनि उत्तर देते हैं कि ऐसा अर्थ अविवेकी पुरुषों को भासता है। वस्तुतः उन श्रुतियों का अर्थ ठीक प्रकार से नहीं समझा गया। वे श्रुतियां ब्रह्म की अद्वितीय शक्तियों का वर्णन करने के लिये हैं।

"नात्मानाविद्या नोभयं जगदुपादानकारणं निःसंगत्वात्" ॥६५॥

(नात्मा) न तो आत्मा (नाविद्या) और नहीं अविद्या (नोभयम्) और न ही दोनों (जगदुपादानकारणम्) जगत के उपादान कारण हैं (निःसंगत्वात्) निस्संग होने से।

आत्मा स्वभाव से निर्विकार है, इसलिये वह संसार का

उपादानकारण हो नहीं सकती। यदि अविद्या को जगत् का उपादानकारण मानें; तो अविद्या को कोई वस्तु मानना पड़ेगा। उस अवस्था में द्वैतापत्ति होगी। यदि अवस्तु मानें तो अभाव से भाव की उत्पत्ति असम्भव है। इसलिये न तो आत्मा और न ही अविद्या इस जगत् का उपादानकारण माना जा सकता है।

"नैकस्यानन्दचिद्रूपत्वे द्वयोर्भेदात्"॥६६॥

(आनन्दचिद्रूपत्वे) आनन्द और ज्ञान दोनों रूप होना (द्वयोर्भेदात्) दोनों का भेद होने से (नैकस्य) जीवात्मा का नहीं हो सकता।

जीवात्मा सत् और चित् है, परमात्मा सत्, चित और आनन्द है। इसलिये ईश्वर और जीवात्मा में भेद होने के कारण जीवात्मा में ज्ञान और आनन्द दोनों का इकट्ठा होना सम्भव नहीं।

ईश्वर और जीव का स्पष्ट भेद इस सूत्र में अवगमन कराया गया है।

"दुःखनिवृत्तेर्गौणः"॥६७॥

(दुःखनिवृत्तेः) दुःख के निवृत्त हो जाने से (जो सुख प्राप्त होता है) (गौणः) वह गौण है (Secondary)।

जीवात्मा स्वभाव से आनन्दमय नहीं है। प्रत्युत जो आनन्द दुःखों के निवृत्त होने पर उसे प्राप्त होता है, वह आनन्द प्राप्त किया हुआ है (Requried) वह स्वभाविक नहीं है। इसलिये उस आनन्द को गौण कहा गया है। वह आनन्द विशेष काल तक ही सीमित है।

"विमुक्तिप्रशंसा मन्दानाम्"॥६८॥

(मन्दानाम्) अज्ञानियों को (प्रोत्साहन करने के लिये (विमुक्ति-प्रशंसा) सतत आनन्द अथवा मुक्ति की प्रशंसा है।

अज्ञानी पुरुषों के लिये सतत मुक्ति की प्रशंसा की है। अन्यथा मुक्ति सान्त है और उसका आनन्द भी सान्त है, क्योंकि जीवात्मा स्वभाव से अल्पज्ञ होने के कारण हमेशा के लिये आनन्दमय नहीं बन सकता।

दूसरा अर्थ—दुःखों से निवृत्त होकर सुख भोगने की प्रशंसा से केवल तमोगुणी पुरुषों को आध्यात्मिक मार्ग पर लाने के लिये प्रोत्साहित करना अभीष्ट है।

मन के विषय में—

"न व्यापकत्वं मनसः करणत्वादिन्द्रियत्वाद्वा"॥६९॥

(मनसः) मन का (न व्यापकत्वम्) व्यापक होना सम्भव नहीं (करणत्वादिन्द्रियत्वात वा) क्योंकि मन एक साधन है और इन्द्रिय है।

मन विभु या व्यापक नहीं है; क्योंकि वह जीवात्मा की क्रियाओं के लिये एक साधन है और इन्द्रिय है।

"सक्रियत्वाद्गतिश्रुतेः"॥७०॥

(सक्रियत्वात) क्रियावान् होने से (गतिश्रुतेः) श्रुति द्वारा गति वाला होने से।

मन क्रिया वाला है और गति वाला है, क्योंकि सब ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियां उसी के द्वारा अपना व्यापार करती हैं।

"न निर्भागत्वं तद्योगात् घटवत्" ॥७१॥

(न निर्भागत्वम्) भाग रहित— निरवयव होना सम्भव नहीं (तद्योगात्) उनके संयोग होने से (घटवत्) घड़े की तरह।

जिस प्रकार घड़ा सावयव है और कार्य है; इसी प्रकार मन भी सावयव है और किसी का कार्य है। इसलिये उसका कारण-योग भी अवश्य होगा।

"प्रकृतिपुरुषयोरन्यत्सर्वमनित्यम्" ॥७२॥

(प्रकृतिपुरुषयोः) प्रकृति और पुरुष से (अन्यत्) अन्य (सर्वम्) सब कुछ (अनित्यम्) अनित्य है।

प्रकृति और पुरुष तो नित्य हैं, शेष सब कुछ अनित्य है।

पुरुष शब्द से आत्मा और परमात्मा दोनों का ग्रहण करना है।

"जीवेश्वरोभयपरोऽत्र पुरुषशब्दः, सांख्यानां पदार्थत्रयस्यैवानित्यत्वाभ्युपगमात्"। (स्वामी हरिप्रसाद)

"न भागलाभो भोगिनो निर्भागत्वश्रुतेः" ॥७३॥

(भोगिनः) भोगी अर्थात् जीवात्मा के (न भागलाभः) भाग नहीं हो सकते हैं—वह निरवयव है (निर्भागश्रुतेः) श्रुति द्वारा उसका भाग रहित होना कथन किया गया है।

जीवात्मा निरवयव है, उसके भाग नहीं हो सकते। ऐसा श्रुति द्वारा प्रतिपादित किया गया है। श्रुति निम्न है—

"निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरंजनम्"

जीवात्मा निरवयव है, इसलिये वह आप कारण रूप है और नित्य है। इसी प्रकार प्रकृति के विषय में भी कहा जा सकता है कि वह भी निरवयव है, कारण रहित है; इसलिये नित्य है।

मुक्ति के विषय में—

"नानन्दाभिव्यक्तिर्मुक्ति निर्धर्मत्वात्" ॥७४॥

(निधर्मत्वात) धर्म रहित होने से (आनन्दाभिव्यक्तिः) आनन्द की प्रकटता (न मुक्तिः) मुक्ति नहीं है।

आनन्द जीवात्मा का स्वाभाविक गुण नहीं है; प्रत्युत प्राप्त किया हुआ गुण है। इसलिये आनन्द के प्रकट होने से यह न समझा जाय कि उसकी मुक्ति हमेशा के लिये हो गई। मुक्ति का आनन्द एक नियत काल तक भोग कर उस का पुनः संसार में आना अनिवार्य है।

दूसरा अर्थ इस सूत्र का यह हो सकता है कि "आत्मा अपने स्वरूप ज्ञान रूप मात्र से नित्य है। इसलिये आनन्द की प्रकटता मोक्ष नहीं है। केवल दुःखों का अत्यन्ताभाव ही मोक्ष है।" (विज्ञानभिक्षु)

"न विशेषगुणोच्छित्तिस्तद्वत्" ॥७५॥

(विशेषगुणोच्छित्तिः) विशेष गुणों का नाश भी (न) मोक्ष नहीं है (तद्वत) उसी तरह।

विशेष गुणों के नाश से भी मुक्ति नहीं है, क्योंकि वे गुण भी जीवात्मा के स्वाभाविक गुण नहीं है। सत्व, रज और तम

ये प्रकृति के गुण हैं। जब आत्मा अपने स्वाभाविक धर्म में स्थित हो जाता है, तभी वह मुक्त कहलाता है। और वह तभी हो सकता है जब दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति हो जाय। इसके अतिरिक्त मोक्ष का और कोई उपाय नहीं।

"न विशेषगतिर्निष्क्रियस्य"॥७६॥

(निष्क्रियस्य) जीवात्मा की (विशेषगतिः) ब्रह्मलोकादि को प्राप्ति से भी (न मुक्तिः) मुक्ति नहीं है।

यह कहना कि जीवात्मा का ब्रह्मलोकादि को प्राप्त होना ही मुक्ति है, तो यह अशुद्ध है; क्योंकि जीवात्मा स्वभाव से क्रिया रहित है। मन और इन्द्रियों से युक्त होने के कारण वह क्रियावान् कहलाता है। मोक्ष अवस्था में मन और इन्द्रियों का रहना सम्भावित नहीं। इसलिये गमनागमन से वह रहित हो जाता है। ऐसी अवस्था में ब्रह्मलोक या किसी अन्य लोक की प्राप्ति से मोक्ष मानना अशुद्ध है।

"नाकारोपरागोच्छित्तिः क्षणिकत्वादिदोषात्"॥७७॥

(क्षणिकत्वादिदोषात्) क्षणिक होने आदि के दोष से (आकारोपरागोच्छित्तिः) विषय वासना के उपराग का नाश (न) मुक्ति नहीं है।

कई क्षणिकवादी आत्मा को क्षणिक ज्ञान का रूप देते हैं और उसकी मुक्ति का यह अर्थ समझते हैं कि उसका विषयाकार होना बन्ध है तथा उस विषय वासना के उपराग का नाश ही मुक्ति है। यह ठीक है, परन्तु उनके मत में आत्मा कोई स्थिर वस्तु नहीं; आत्मा क्षणिक ज्ञान के आभास का ही नाम है।

ऐसी अवस्था में स्थिर आत्मा के अभाव में क्षणिकादि दोषों के कारण मुक्ति का लक्षण जो उन्होंने किया है, वह उचित प्रतीत नहीं होता।

"न सर्वोच्छित्तिरपुरुषार्थत्वादिदोषात्" ॥७८॥

(अपुरुषार्थत्वादिदोषात्) पुरुषार्थादि के न रहने आदि दोष से (सर्वोच्छित्तिः) सर्वनाश होना (न) मुक्ति नहीं है।

यदि क्षणिकवादियों के मतानुसार आत्मा का सर्वनाश ही उसका मोक्ष समझ लिया जाय, तो यह उचित नहीं; क्योंकि मोक्ष को **अत्यन्त पुरुषार्थ** कहा है। आत्मा का सर्वनाश मानना पुरुषार्थ का भी नाश समझना है। तब पुरुषार्थ रूप मोक्ष होना सम्भव नहीं है।

"एवं शून्यमपि"॥ ७९ ॥

(एवं) इसी प्रकार (शून्यमपि) शून्य मत भी खण्डित किया जा सकता है।

जिस प्रकार अपुरुषार्थत्वादि दोष से सर्वनाश को मुक्ति नहीं समझा जा सकता; इसी प्रकार शून्यवादी का मत भी मान्य नहीं है; क्योंकि उसके मत के अनुसार ज्ञानज्ञेयात्मक निखिल प्रपञ्च का नाश ही मुक्ति माना गया है।

"संयोगाश्च वियोगान्ता इति न देशादिलाभोऽपि"॥८०॥

(संयोगाः) सब संयोग (वियोगान्ताः) वियोग के अन्त तक

हैं (देशादिलाभोऽपि) धन, देश स्त्री और ऐश्वर्य आदि की प्राप्ति से भी (न) न मुक्ति नहीं है।

सांसारिक ऐश्वर्य (स्त्री, पुत्र, कलत्र तथा धन देशादि) की प्राप्ति को मुक्ति समझना अशुद्ध है; क्योंकि सब संयोग वियोग के अन्त तक अर्थात् मरण तक रहते हैं। विनाशी होने से उनका स्वामी होना मोक्ष नहीं है।

"न भागियोगो भागस्य"॥ ८१ ॥

(भागस्य) भाग का–जीवात्मा का (भागियोगः) भागी–ईश्वर के साथ मिल जाना (न) मुक्ति नहीं है।

जीवात्मा को अंश मान कर ईश्वर (अंशी) के साथ एक हो जाना या लय होना भी मुक्ति नहीं है। क्योंकि संयोग का वियोग अवश्य होगा। वियोग होने से अनित्य है। अनित्य होने से जीव का ईश्वर में लय होना मोक्ष नहीं समझा जा सकता।

"नाणिमादियोगोऽप्यवश्यं भावित्वादुच्छित्तेरितर योगवत्" ॥ ८२ ॥

(अणिमादियोगोऽपि) अणिमादि अष्ट सिद्धि का योग भी (अवश्यं भावित्वादुच्छित्तेः) उसका नाश अवश्य होने के कारण (इतरयोगवत्) अन्य योग के समान (न) मुक्ति नहीं है।

योग दर्शन में जो अणिमा आदि सिद्धियों का वर्णन मिलता है, उनके प्राप्त हो जाने पर भी मोक्ष नहीं है; क्योंकि अन्य

योग के तुल्य अणिमा आदि सिद्धियों के योग का भी वियोग होगा। जब इनका भी नाश होगा, तो वह मोक्ष की अवस्था को देने वाले नहीं हो सकते।

"नेन्द्रादिपदयोगोऽपि तद्वत्" ॥ ८३ ॥

(इन्द्रादिपदयोगोऽपि) इन्द्रादि पद की प्राप्ति भी (तद्वत्) उसी प्रकार (न) मुक्ति नहीं है।

इसी प्रकार इन्द्रादि पद अर्थात् उच्च से उच्च पद की प्राप्ति भी मोक्ष नहीं है; क्योंकि वे सब नाशवान् हैं।

इन्द्रियां भौतिक नहीं हैं—

"न भूतप्रकृतित्वमिन्द्रियाणामाहंकारिकत्वश्रुतेः" ॥८४॥

(इन्द्रियाणाम्) इन्द्रियों का (आहंकारिकत्वश्रुतेः) अहंकार से पैदा होना श्रुति द्वारा सिद्ध हो जाने के कारण (न भूतप्रकृतित्वम्) भौतिक होना सिद्ध नहीं हो सकता।

इन्द्रियों की उत्पत्ति अहंकार द्वारा हुई है, पञ्च महाभूतों द्वारा नहीं हुई है।

"न षट्पदार्थनियमस्तदबोधान्मुक्तिश्च" ॥ ८५ ॥

(षट्पदार्थनियमः) वैशेषिक मतानुसार ६ पदार्थ का नियम–द्रव्य गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय (तद्बोधात्) इन ६ पदार्थों के जानने से (न) मुक्ति नहीं होती।

वैशेषिक दर्शनानुसार ६ पदार्थ हैं—द्रव्य (Substance) गुण (Quality), कर्म (Movement) सामान्य (Co-

mmon fundements) विशेष (Chief characteristics) और समवाय (Inhergent quotation) इनके जानने से मुक्ति हो जाती है। परन्तु कपिल मुनि कहते हैं कि यह अशुद्ध है, क्योंकि पदार्थ अनेक हैं। जब तक कि प्रकृति का विशेष ज्ञान नहीं होता, तब तक मुक्ति नहीं। पदार्थों की संख्या अनेक हैं, उनकी कहां तक गिनती की जाय।

"षोडशादिष्वप्येवम्" ॥८६॥

इसी प्रकार १६ पदार्थों के विषय में भी।

नैय्यायिक १६ पदार्थ मानते हैं और इनके द्वारा वे मोक्ष मानते हैं। परन्तु कपिल मुनि कहते हैं कि इन १६ पदार्थों से भी मुक्ति नहीं हो सकती। कपिल मुनि ने २५ पदार्थ गिनाये हैं। इसलिये मुक्ति के लिये केवल पदार्थों का ज्ञान अपर्याप्त है; प्रत्युत प्रकृति का ज्ञान प्राप्त करना उचित है।

"नाणुनित्यता तत्कार्यत्वश्रुतेः" ॥ ८७ ॥

(नाणुनित्यता) अणु नित्य नहीं हैं अर्थात् विनाशी हैं (तत्कार्यत्वश्रुतेः) क्योंकि श्रुति द्वारा यह प्रतिपादित किया गया है कि अणु भी कार्य है।

कई तत्त्ववेता अणु को ही प्रकृति समझते हैं—यह अशुद्ध है। अणु भी अन्य पदार्थों की तरह प्रकृति का कार्य है। जो कार्य है, वह विनाशी है। इसलिये अणुको प्रकृति समझना ठीक नहीं है। उस सूत्र द्वारा Atomic theory

अणु आवर्तवाद का खण्डन स्पष्ट है इसके लिये निम्न स्मृति है—

"अण्व्यो मात्रा विनाशिन्यो दशार्धानां च याः स्मृताः ।
ताभिस्सार्द्ध मिदं सर्वं सम्भवत्यनुपूर्वशः॥अ० १, श्लो० २७

दस के आधे पांच अर्थात् पृथिव्यादि पांच भूतों की जो अणु मात्रा है, वह विनाश होने वाली है। इनके सहित यह सब जगत् पूर्व सृष्टि के सदृश उत्पन्न होता है। अणु शब्द यहां परमाणु वाचक है।

"न निर्भागत्वं कार्यत्वात्" ॥ ८८ ॥

(कार्यत्वात) कार्य होने से (न निर्भागत्वम्) भाग रहित होना नहीं है।

अणु भी प्रकृति का कार्य है। इसलिये यह कहना कि उसका भाग नहीं हो सकता, यह अशुद्ध है।

"न रूपनिबन्धनात् प्रत्यक्षनियमः" ॥ ८९ ॥

(रूपनिबन्धनात्) रूप निमित्त से (न प्रत्यक्षनियमः) प्रत्यक्ष का नियम नहीं है।

जो कार्य है, उसे प्रत्यक्ष दिखलाई देना चाहिये। यदि अणु प्रकृति का कार्य है, तो उसका कोई रूप होना चाहिये और वह प्रत्यक्ष दिखलाई देना चाहिये। कपिल मुनि कहते हैं कि यह कोई नियम नहीं है कि प्रत्यक्ष वस्तु रूप वाली हो। केवल स्थूल स्थूल द्रव्यों का ही बाह्य इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष होता है। सूक्ष्म वस्तु का अन्तःकरण द्वारा ज्ञानादि से प्रत्यक्ष होता है।

"न परिमाणचातुर्विध्यं द्वाभ्यां तद्योगात्" ॥९०॥

(न परिमाणचातुर्विध्यम्) परिमाण चार प्रकार का नहीं है (द्वाभ्यां तद्योगात्) दो से उनका योग होने से।

चार प्रकार के परिमाण माने गये हैं—अणु, महत्, ह्रस्व और दीर्घ। आचार्य कहते हैं कि इन चारों को दो में ही परिगणित किया जा सकता है—अणु और ह्रस्व एक में तथा महत् और दीर्घ दूसरे में। अर्थात् अणु और महत् ही वस्तुतः दो परिमाण हैं।

अब प्रश्न यह है कि जब पुरुष और प्रकृति के सिवाय सब अनित्य है, तो आज जिस घड़े को हमने देखा है कल फिर जब वह घड़ा हमारे पास लाया जाता है, तब हम फौरन कह देते हैं कि यह वही घड़ा है, जो हमने कल देखा है। वस्तुएँ तो सब अनित्य हैं और परिवर्तित होती रहती हैं। ऐसी अवस्था में यह प्रत्यभिज्ञा किस तरह होती है? ऋषि इसका उत्तर देते हैं—

"अनित्यत्वेऽपि स्थिरयोगात् प्रत्यभिज्ञानं सामान्यस्य" ॥९१॥

(अनित्यत्वेऽपि) अनित्य होने पर भी (स्थिरयोगात्) स्थिरता के योग से (सामान्यस्य) सामान्य वस्तुओं की (प्रत्यभिज्ञानम्) प्रत्यभिज्ञा हो सकती है।

यद्यपि वस्तुएं अनित्य हैं। उस अनित्यता में (Conceptrial Unity) आधार युक्त एकता के रह जाने से उन सामान्य वस्तुओं का पुनः ज्ञान बना रहता है। यह ठीक है कि प्रत्येक

वस्तु परिवर्तित हो रही है। उस परिवर्तन में एक स्थिर योग बना रहता है, जिससे हम उस परिवर्तित चीज़ को भी उसी रूप में देखते हैं, जिस रूप में पहिले देखी थी।

"न तदपलापस्तस्मात्" ॥९२॥

(तस्मात्) इसलिये (तदपलापः) उसका मिथ्याकथन नहीं।

इसलिये यह कहना कि जो अनित्य पदार्थ हैं, उनके अन्दर कोई स्थिर योग नहीं, यह अशुद्ध है। अनित्य पदार्थों में भी सामान्यभाव की विद्यमानता रहती है।

"नान्यनिवृत्तिरूपत्वं भावप्रतीतेः" ॥९३॥

(भावप्रतीतेः) सामान्य भाव की प्रतीति से (नान्यनिवृत्तिरूपत्वम्) वस्तु का सर्वथा नाश नहीं हो जाता।

आचार्य कहते हैं कि वस्तु के अनित्य होने का यह तात्पर्य नहीं कि वह सर्वथा नष्ट हो जाती है, प्रत्युत उसका अभिप्राय यह है कि वह परिवर्तित होती रहती है। परन्तु उस परिवर्तन में भी सामान्यभाव की स्थिरता बनी रहती है। जिस कारण जब वह पदार्थ हमारे सामने उपस्थित होता है, तब हम सहसा कह देते हैं कि यह पदार्थ वही है, जो हमने पूर्व देखा था। इस लिये प्रत्यभिज्ञा सत्य है।

"न तत्त्वान्तरं सादृश्यं प्रत्यक्षोपलब्धेः" ॥९४॥

(प्रत्यक्षोपलब्धेः) प्रत्यक्ष से उपलब्धि होने से (तत्त्वान्तरं न सादृश्यम्) उसके समान कोई अन्य वस्तु सादृश्य नहीं रखती।

कपिल मुनि कहते हैं कि (Similar) वस्तु के ज्ञान को प्रत्यभिज्ञा नहीं कहते। वह वस्तु कितनी ही एक दूसरे के साथ क्यों न मिलती जुलती हो; फिर भी उसमें कुछ न कुछ भेद रहेगा। प्रत्यभिज्ञा उसे कहते हैं कि वही वस्तु सामने पुनः आवे जो पूर्व देखी हो-"यह वही घड़ा है, जो मैंने पूर्व देखा था" इसे प्रत्यभिज्ञा कहते हैं। "यह उस जैसा ही घड़ा है, जो मैंने कल देखा था" इसे प्रत्यभिज्ञा नहीं कहते; क्योंकि प्रत्यक्ष रूप से उनमें कुछ न कुछ फर्क दिखलाई देता है।

"निजशक्त्यभिव्यक्तिर्वा वैशिष्ट्यात्-
तदुपलब्धेः" ॥९५॥

(न निजशक्त्यभिव्यक्तिः) स्वाभाविक शक्ति की प्रकटता भी सादृश्य नहीं है (वैशिष्ट्यात्) विलक्षणता से (तदुपलब्धेः) उसकी उपलब्धि होने से।

यह समझना कि जो शक्ति पहले देखे हुए घड़े में है, वही शक्ति इस समय देखते हुए घड़े में है, इस शक्ति के प्रकाश को ही प्रत्यभिज्ञा कहते हैं, अशुद्ध है-क्योंकि यह बात अर्थापत्ति से सिद्ध है यह प्रत्यभिज्ञा में हेतु नहीं हो सकती। समान आकृति और समानशक्ति प्रत्यभिज्ञा नहीं कहला सकती। प्रत्यभिज्ञा का हेतु इस बात में है कि जो घड़ा पहले देखा था, उसी को मैं आज फिर देख रहा हूँ—इसे ही प्रत्यभिज्ञा कहते हैं।

"न संज्ञासंज्ञिसम्बन्धोऽपि" ॥ ६६ ॥

नाम (संज्ञा) और नाम वाले (संज्ञी) का सम्बन्ध भी प्रत्यभिज्ञा को जाहिर करने वाला नहीं है; क्योंकि संज्ञासंज्ञि का सम्बन्ध सब घड़ों में बराबर है। परन्तु इतने पर भी अनेक घड़ों में अनेक भेद रहते हैं. इसलिये प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती। और जो संज्ञासंज्ञि-भाव को नहीं जानता, उसको भी सादृश्य ज्ञान नहीं है।

"न सम्बन्धनित्यतोभयानित्यत्वात्" ॥ ६७ ॥

(न सम्बन्धनित्यता) सम्बन्ध की नित्यता नहीं है (उभयानित्यत्वात) दोनों के अनित्य होने से।

संज्ञा और संज्ञी का सम्बन्ध नित्य नहीं है। जिस वस्तु को हम 'घड़े' के नाम से पुकारते थे, उसके टूटने पर उसकी संज्ञा भी स्वयं नष्ट हो गई। दूसरे घड़े की संज्ञा अन्य होगी। इस संज्ञासंज्ञी के सम्बन्ध को भी प्रत्यभिज्ञा में हेतु नहीं कह सकते।

"नाजः सम्बन्धो धर्मिग्राहकमानबाधात्" ॥६८॥

(धर्मिग्राहकमानबाधात्) धर्मी के ग्राहक प्रमाण से बाध होने से (नाजः सम्बन्धः) नित्य सम्बन्ध नहीं है।

सम्बन्ध जिन तरीकों से कायम होता है, उनसे यह स्पष्ट है कि यदि सम्बन्धी अनित्य है, तो सम्बन्ध भी अनित्य होगा।

गुण और गुणी का नित्य समवाय सम्बन्ध है और साथ ही गुण और गुणी अनित्य हैं। इसका समाधान निम्न सूत्र में

करते हैं।

"न समवायोऽस्ति प्रमाणाभावात्" ॥ ९९ ॥

समवाय कोई सम्बन्ध नहीं है; क्योंकि इस विषय में कोई प्रमाण नहीं है।

"उभयत्राप्यन्यथा सिद्धेर्न प्रत्यक्षमनुम नं वा" ॥१००॥

(अन्यथा सिद्धेः) अन्यथा सिद्ध होने से (उभयत्रापि) दोनों में विशिष्ट और वैशिष्ट्य में (न प्रत्यक्षम्) न प्रत्यक्ष है (अनुमानं वा) और न ही अनुमान है।

जिसमें विशेष पदार्थ का सम्बन्ध हो उसको विशिष्ट कहते हैं और विशिष्ट होना वैशिष्ट्य कहा जाता है। दोनों में वैशिष्ट्य के प्रत्यक्ष और अनुमान में स्वरूप ही से अन्यथा सिद्ध होने से समवाय में प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों प्रमाण नहीं हैं। भाव यह है कि मिट्टी से घड़ा बनता है-यह प्रत्यक्ष है और अनुमान से भी सिद्ध है। यदि मिट्टी न हो तो घड़ा नहीं बनेगा—यह भी अनुमान द्वारा सिद्ध किया जा सकता है। इसलिये समवाय कोई सम्बन्ध नहीं है।

"नानुमेयत्वमेव क्रियाया नेदिष्ठस्य तत्तद्वतोरेवा-
परोक्षप्रतीतेः"॥१०१॥

(नेदिष्ठस्य) निकटस्थ को (तत्तद्वतोः क्रियायाः) क्रिया और क्रियावान् का (एव) केवल (अनुमेयत्वमेव) अनुमान ही नहीं होता (अपरोक्ष-प्रतीतेः) अपरोक्ष की प्रतीति से।

निकटस्थ को केवल क्रिया और क्रियावान् का अनुमान ही नहीं होता; क्योंकि उनका प्रत्यक्ष भी किया जा सकता है। जैसे— मिट्टी और उससे घड़ा बनाने वाला कुम्हार तथा उससे सम्बन्धित क्रिया प्रत्यक्ष दिखलाई देती है; इसी प्रकार निकटस्थ होकर वस्तुओं की क्रिया और क्रियावान् का प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है। इसलिये समवाय सम्बन्ध को मानने की आवश्यकता नहीं।

स्थूल शरीर के विषय में—

"न पाञ्चभौतिकं शरीरं बहूनामुपादानायोगात्"॥१०२॥

(शरीरम्) स्थूलशरीर–जिस्म (पाञ्चभौतिकम्) पांच भूतों (पृथ्वी, जल, आकाश, वायु और तेज) से बना हुआ (न) नहीं है (बहूनाम्) बहुतों का (उपादानायोगात्) उपादान होने के योग न होने से।

हमारा स्थूल शरीर पञ्चभूतों से बना हुआ नहीं है; क्योंकि बहुत से पदार्थ एक के उपादान कारण नहीं हो सकते। इस स्थूल शरीर को केवल पृथ्वी का अंश मानना चाहिये और जो शेष चार भूत पाये जाते हैं, वे केवल नाम-मात्र के ही हैं।

"न स्थूलमितिनियम आतिवाहिकस्याऽपि विद्यमानत्वात्" ॥१०३॥

(स्थूलमितिनियमो न) केवल स्थूल शरीर ही होना ऐसा नियम नहीं (आतिवाहिकस्याऽपि) सूक्ष्म शरीर की भी (विद्यमानत्वात्) विद्यमानता होने से।

नोटः—जीवात्मानं पुरुषं देहाद्देहान्तरमतिवाहयतीत्यातिवाहिकम् ।

जो जीवात्मा को एक शरीर से दूसरे शरीर में ले जाता है, उसे आतिवाहिक कहते हैं और वह सूक्ष्म शरीर है।

स्थूल शरीर के अतिरिक्त सूक्ष्म शरीर भी है, क्योंकि उसके द्वारा ही जीवात्मा दूसरे शरीर को धारण कर सकता है। स्थूल शरीर में अपनी निजू कोई क्रिया नहीं होती।

"नाप्राप्तप्रकाशकत्वमिन्द्रियाणामप्राप्तेः सर्वप्राप्तेर्वा" ॥१०४॥

(इन्द्रियाणाम्) इन्द्रियों का (नाप्राप्तप्रकाशकत्वम्) प्राप्त न हुए का प्रकाशक होना सम्भव नहीं (अप्राप्तेः) विना प्राप्ति के (सर्वप्राप्तेः) सब प्राप्त होने के प्रसंग से।

इन्द्रियां उन्हीं वस्तुओं को प्रकाशित कर सकती हैं, जो उनके सम्बन्ध में आती हैं और जो दूर हैं, उनको प्रकाशित नहीं कर सकतीं। यदि दूरस्थ चीजों को जहां इन्द्रियां नहीं पहुँच सकतीं, उन्हें भी प्रकाशित करने वाली समझी जावें, तब इन्द्रियां भी ईश्वर की तरह सर्वज्ञ समझी जावेंगी, जो कि अशुद्ध है।

जितनी इन्द्रियां हैं, उनकी उत्पत्ति अहंकार से मानी गई है। परन्तु प्रश्न कर्त्ता कहता है कि चक्षु इन्द्रिय को अहंकार से उत्पन्न हुआ न समझा जावे; प्रत्युत तेज से उसकी उत्पत्ति सम-

झनी उचित है; क्योंकि तेज ही पदार्थ का प्रकाश कर्ता है और फैलना उसका धर्म है। कपिल मुनि इसका निम्न सूत्र में उत्तर देते हैं।

"न तेजोऽपसर्पणात्तैजसं चक्षुर्वृत्तितः-
तत्सिद्धेः" ॥१०५॥

(चक्षुः) आंख (तेजोऽपसर्पणात्) तेज के फैलाव से (तैजसं न) तैजस नहीं कहला सकती (वृत्तितः) वृत्ति से (तत्सिद्धेः) उसकी सिद्धि होने से।

निस्सन्देह तेज फैलता है। या दूर जाकर प्राप्त होता है। परन्तु इससे आंख को तैजस नहीं कह सकते; क्योंकि जो नेत्र का व्यापार है, उससे भी वस्तु का प्रत्यक्ष हो सकता है।

"प्राप्तार्थप्रकाशलिङ्गात् वृत्तिसिद्धः"॥१०६॥

(प्राप्तार्थप्रकाशलिङ्गात) केवल जो वस्तु नेत्र से सम्बन्धित होती है, उन्हीं को प्रकाश करने की सामर्थ्य से ही (वृत्तिसिद्धिः) उसके व्यापार को सिद्ध करती है।

नेत्र केवल उन्हीं पदार्थों को देख सकता है, जो उसके सम्बन्ध में आ सकते हैं और जो दूर हैं उनका प्रकाश नहीं कर सकता। इससे भी यही सिद्ध है कि चक्षु इन्द्रिय का व्यापार तेज स्वरूप है; परन्तु आंख बज़ाते-खुद तेज स्वरूप नहीं है।

वृत्ति किसे कहते हैं?

"भागगुणाभ्यां तत्वान्तरं वृत्तिस्सम्बन्धार्थं सर्पतीति" ॥१०७॥

(वृत्तिः) वृत्ति (भाग गुणाभ्यां तत्वान्तरम्) भाग और गुण से भिन्न एक पृथक् तत्त्व है (सम्बन्धार्थम्) जो पदार्थ के सम्बन्ध करने के लिये (सर्पतीति) गमन करती है।

१०६ सूत्र में वृत्ति का प्रयोग आया हुआ है। कपिल मुनि इस सूत्र द्वारा उस शब्द को स्पष्ट करते हैं और कहते है कि वृत्ति आंख के किसी टुकड़े का नाम नहीं और न ही आंख के किसी गुण का नाम है। परन्तु उनसे भिन्न एक पृथक् तत्त्व है। क्योंकि यदि आंख के टुकड़े को वृत्ति कहें, तो उसमें यह दोष होगा कि नेत्र के कई टुकड़े करने पड़ेंगे; क्योंकि वृत्तियां अनेक हैं। और यदि गुण समझा जावे, तो गुण जड़ है। इसलिये वृत्ति का पदार्थ के साथ सम्बन्ध होते ही पदार्थ में चला जाना नहीं हो सकता। अतः वृत्ति एक जुदा तत्त्व है।

वृत्ति एक जुदा पदार्थ है। क्या वह द्रव्य है? कपिल मुनि इसका समाधान करते हैं।

"न द्रव्यनियमस्तद्योगात्" ॥१०८॥

(तद्योगात्) उसमें योग होने से (न द्रव्यनियमः) द्रव्य होने का नियम नहीं है।

वृत्ति द्रव्य ही है, ऐसा कोई नियम नहीं है क्योंकि शूद्रवृत्ति, वैश्यवृत्ति इन शब्दों का प्रयोग जाहिर करता है कि वृत्तिका

अर्थ यहाँ द्रव्य नहीं प्रत्युत व्यापार है। इसलिये यह कोई नियम नहीं कि वृत्ति एक द्रव्य ही समझा जावे।

"न देशभेदेऽप्यन्योपादानताऽस्मदादि-
वन्नियमः" ॥१०६॥

(देशभेदेऽपि) देश के भेद होने पर भी (नान्योपादानता) इन्द्रियों का उपादानकारण अन्य नहीं है, प्रत्युत अहंकार ही उपादानकारण है (अस्मदादिवत) अस्मदादि की तरह (नियमः) नियम है।

देश के बदल जाने पर इन्द्रियों के उपादानकारण में कोई परिवर्तन नहीं होता। इन्द्रियों की उत्पत्ति अहंकार से ही है। पञ्चभूतों से नहीं।

अब प्रश्न यह है कि श्रुतियों में इन्द्रियों को भौतिक कहा है और कपिल मुनि उन्हें अहंकार से उत्पन्न हुआ समझते हैं। इसका कपिल मुनि निम्न सूत्र में समाधान करते हैं।

"निमित्तव्यपदेशात्तद्व्यपदेशः" ॥११०॥

(निमित्तव्यपदेशात) निमित्त के व्यपदेश से (तद्व्यपदेशः) उस का व्यपदेश है।

जैसे ईन्धन से अग्नि पैदा होती है। ईन्धन का आग उपादानकारण समझा गया है। वस्तुतः आग लकड़ी आदि का रूप नहीं है। इसी प्रकार इन्द्रियों के भौतिक न होते हुए भी उन्हें भौतिक समझा गया है।

प्रश्न—सृष्टि कितने प्रकार की है ?

उत्तर—छे प्रकार की है।

"उष्मजाण्डजजरायुजोद्भिज्जसांकल्पिकसांसिद्धिकं-
चेति न नियमः" ॥१११॥

उष्मज=जो पसीने से पैदा होते हों, जैसे, लीखें।

अण्डज=जो अण्डे से पैदा होते हों; जैसे, मुर्गियां।

जरायुज=जो झिल्ली से पैदा होते हों; जैसे, मनुष्य।

उद्भिज=जो जमीन को फोड़ कर पैदा होते हों; जैसे, वृक्ष।

सांकल्पिक=जो बिना माता पिता के पैदा होते हों; जैसे, सृष्टि के आदि में ऋषि लोग।

सांसिद्धिक=जो शरीर तप आदि की सिद्धि से उत्पन्न होते हैं; जैसे, कपिल मुनि। (जैसे खान में धातुएं बनती हैं)।

ऐसा कोई नियम नहीं कि ६ ही प्रकार की सृष्टि हो।

"सर्वेषु पृथिव्युपादानमसाधारण्यात्तद्व्यपदेशः
पूर्ववत्" ॥११२॥

(सर्वेषु) सब सृष्टियों में (असाधारण्यात) विशेष रूप से (उपादानम्) उपादान कारण (पृथिवी) पृथ्वी है (तद्व्यपदेशः) उसका वर्णन (पूर्ववत्) पूर्व के सदृश है।

सब सृष्टियों अथवा शरीरों का मुख्य उपादान कारण पृथ्वी है और शेष सब भूत गौण कारण हैं।

शरीर में प्राण ही मुख्य हैं, इसलिये प्राण को ही देह का

कर्ता क्यूं न माना जाय ? कपिल मुनि इसका उत्तर निम्न प्रकार देते हैं।

"न देहारम्भकस्य प्राणत्वमिन्द्रियशक्ति-
तस्तत्सिद्धेः" ॥११३॥

(न देहारम्भकस्य प्राणत्वम्) प्राण देह का कर्त्ता नहीं है (इन्द्रिय-शक्तितस्तत्सिद्धेः) इन्द्रियों की शक्ति से उसका कार्य करना सिद्ध होने के कारण।

प्राण इस शरीर का कर्त्ता नहीं कहला सकता; क्योंकि प्राण इन्द्रियों की शक्ति से अपना कार्य करता है। जब तक इन्द्रियां हैं, तब तक प्राण हैं। जब इन्द्रियां नष्ट हो गईं, तब प्राण भी नष्ट हो गया। इसलिये प्राण देह का कारण नहीं।

"भोक्तुरधिष्ठानाद्भोगायतननिर्माणमन्यथा
पूतिभावप्रसंगात्" ॥११४॥

(भोक्तुरधिष्ठानात्) पुरुष के व्यापार से (भोगायतन निर्माणम्) शरीर का बनना हो सकता है (अन्यथा) नहीं तो प्राण के बिना (पूतिभावप्रसंगात्) पूतिभाव होने का प्रसंग होता है।

पुरुष प्राणों को अपने २ स्थानों पर लगाता है तब प्राण-वायु ठीक २ रसों को पकाता है। यदि प्राण द्वारा रस न पकेंगे, तो शरीर में दुर्गन्ध पैदा हो जायगी और शरीर सड़ने लगेगा। इसलिये प्राण शरीर का एक निमित्त कारण है। परन्तु मुख्य कारण पुरुष ही है, जो प्राणों को अपने २ कार्यों में नियुक्त करता है।

"भृत्यद्वारा स्वाम्यधिष्ठितिर्नैकान्तात्" ॥११५॥

जैसे सेठ का कोई मकान हो, उसे बनाते तो नौकर, राज और मिस्त्री हैं; परन्तु कहा यह जाता है कि यह अमुक सेठ का मकान है। इसी प्रकार इस शरीर का मालिक तो आत्मा है परन्तु इस शरीर को सुव्यवस्थित रखने वाली इन्द्रियां और प्राण हैं।

"समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता" ॥११६॥

समाधि, सुषुप्ति और मोक्ष में पुरुष ब्रह्म की तरह रूप वाला, हो जाता है।

जिस प्रकार असम्प्रज्ञातावस्था में वृत्तियों का सर्वथा लय हो जाता है और सुषुप्ति अवस्था में मनुष्य गाढ़ निद्रा में होता है उसी प्रकार कैवल्य की अवस्था में पुरुष ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है अर्थात् आनन्दस्वरूप हो जाता है। परन्तु यह मतलब नहीं कि वह ब्रह्म ही हो जाता है।

"द्वयोः सबीजमन्यत्र तद्धतिः" ॥११७॥

(द्वयोः) समाधि और सुषुप्ति अवस्था में (सबीजम्) बन्ध का कुछ न कुछ बीज रह जाता है (अन्यत्र) परन्तु मोक्षावस्था में (तद्धतिः) उस बन्ध का सर्वथा अभाव है।

समाधि और सुषुप्ति अवस्था में बन्ध अर्थात दुःख के कुछ न कुछ संस्कार शेष रह जाते हैं। परन्तु मोक्षावस्था में किसी प्रकार का भी बन्ध अर्थात् दुःख का संस्कार नहीं रहता।

"द्वयोरिव त्रयस्यापि दृष्टत्वात्" ॥११८॥

(द्वयोरिव) दो की तरह (त्रयस्याऽपि) तीसरे का भी (दृष्टत्वात्) दृष्ट होने से (न तु द्वौ) दो नहीं हैं।

केवल सुषुप्ति और समाधि अवस्था ही प्रत्यक्ष नहीं दीखती प्रत्युत मोक्षावस्था भी प्रत्यक्ष दिखलाई दे सकती है। सुषुप्ति और समाधि अवस्था में राग और द्वेष की मात्रा कुछ न कुछ बनी रहती है। परन्तु जब ज्ञान द्वारा वह मात्रा भी नष्ट हो जाती है, तब मोक्षावस्था दिखलाई देती है।

कहा गया है कि सुषुप्ति, समाधि तथा मुक्ति में ब्रह्मरूपता है। अब प्रश्न यह है कि सुषुप्ति में ब्रह्मरूपता कैसे हो सकती है; क्योंकि उसमें तो केवल निद्रा के आवेश में आकर वासनाओं का तिरोभाव हो गया है। वासनायें नष्ट तो नहीं हुई और न ही सुषुप्ति अवस्था वाले को वैराग्य प्राप्त हुआ है। कपिल मुनि इसका समाधान निम्न प्रकार करते हैं।

"वासनयाऽनर्थख्यापनं दोषयोगेऽपि न निमित्तस्य प्रधानबाधकत्वम्" ॥११९॥

(दोषयोगेऽपि) निद्रा के दोष होने पर भी (वासनया) वासनाओं से (अनर्थख्यापनम्) अर्थ स्मरण नहीं रहता (न निमित्तस्य) और न निमित्त का (प्रधानबाधकत्वम्) प्रधान का बाधक होना सिद्ध होता है।

जैसे वैराग्य द्वारा वासनाओं का वेग बहुत कम हो जाता

है; इसी प्रकार सुषुप्ति और निद्रा में भी वासनाओं का वेग नहीं रहता। वासनाओं का निमित्त जो संस्कार है, वह निद्रा के दोष से दब चुका है। इसलिये सुषुप्ति में भी समाधि की तरह आनन्द बना रहता है। इसलिये सुषुप्ति अवस्था में भी ब्रह्मरूपता कहा है।

"एकः संस्कारःक्रियानिर्वर्तको न तु प्रतिक्रियं संस्कारभेदा बहुकल्पना प्रसक्तेः" ॥१२०॥

(एकः संस्कारःक्रियानिर्वर्तकः) एक संस्कार क्रिया निवृत्त करने वाला होती है (न तु प्रतिक्रियं संस्कारभेदाः) प्रत्येक क्रिया के लिये पृथक् २ संस्कार नहीं मानने चाहिए (बहुकल्पनाप्रसक्तेः) बहुत कल्पना के प्रसंग से।

तृतीय अध्याय में यह कहा है कि संस्कार लेश से जीवन्मुक्त को शरीर धारण करना पड़ता है। परन्तु प्रश्न यह है कि जीवन्मुक्त के पूर्व संस्कार तो नष्ट हो चुके हैं; केवल एक संस्कार शेष रह गया था, जिससे उसको शरीर मिला है। क्या उसी एक संस्कार से वह इस संसार में भोग करता है? कपिल मुनि उत्तर देते हैं कि वह एक ही संस्कार उस शरीर से जो प्रारब्ध भोग है, उसका समाप्त करने वाला होता है। प्रत्येक क्रिया के वास्ते अलग २ संस्कार मानना उचित नहीं; क्योंकि फिर बहुत से संस्कार हो जायेंगे।

सूत्र १११ में छे प्रकार की सृष्टि कही गई है, उनमें एक सृष्टि

उद्भिज है। अब प्रश्न यह है कि उद्भिज शरीर में बाह्य बुद्धि नहीं होती। उससे शरीर होना सम्भव नहीं। कपिल मुनि निम्न सूत्र में इसका उत्तर देते हैं।

"न बाह्यबुद्धिनियमो वृत्तगुल्मलतौषधिवनस्पतितृण वीरुधादीनांमपि भोक्तृभोगायतनं पूर्ववत्" ॥१२१॥

जिसमें बाह्य बुद्धि हो, उसको ही शरीर कहा जाय, ऐसा कोई नियम नहीं। वृत्त, गुल्मलता, औषधि, वनस्पति, तृण और वीरुध आदि का भी भोग स्थान शरीर का होना पूर्व के तुल्य स्वीकार किया गया है कई वृत्त सूख जाते हैं और कई वृत्त बढ़ते हैं, इसलिये उनका भी शरीर है।

"स्मृतेश्च" ॥ १२२ ॥

स्मृति से भी।

स्मृति ग्रन्थों में भी वृत्त आदि के शरीर होने का प्रमाण है स्मृति में यह कहा है।

"शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः।
वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम्" ॥

शरीर से उत्पन्न कर्म दोषों से मनुष्य स्थावर (वृक्षादि) होता है। वाचिक दोषों से पक्षी मृग आदि होता है। मानस दोषों से अन्त्यज कीट पतंग होता है।

अब प्रश्न यह है कि यदि वृक्षादि का शरीर माना जाय, तो उनमें धर्माधर्म का होना भी स्वीकार किया जाना चाहिये

कपिल मुनि इस का उत्तर निम्न सूत्र में देते हैं।

"न देहमात्रतः कर्माधिकारित्वं वैशिष्ट्यश्रुतेः" ॥१२३॥

(देहमात्रतः) देह मात्र से (न कर्माधिकारित्वम्) कर्म या धर्माधर्म का अधिकार नहीं मिल जाता (वैशिष्ट्यश्रुतेः) श्रुति में केवल उन शरीरों को कर्माकर्म का अधिकार है, जो विशेष हैं; यथा मनुष्यादि का शरीर।

केवल शरीरधारी होने से कर्माकर्म का अधिकार नहीं मिल जाता है। श्रुति में केवल मनुष्य जाति को ही धर्माधर्म का अधिकार प्रतिपादित किया गया है।

देह के भेद से ही कर्म भेद है, इसे निम्न सूत्र में जाहिर किया गया है।

"त्रिधा त्रयाणां व्यवस्था कर्मदेहोपभोगदेहोभयदेहाः" ॥ १२४ ॥

(त्रयाणाम्) तीन की-उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ की (त्रिधा-व्यवस्था) तीन प्रकार की व्यवस्था हैं (कर्मदेहोपभोगदेहोभयदेहाः) कर्मदेह, उपभोगदेह और उभयदेह।

कर्मदेह—जो ब्रह्मचारी और वानप्रस्थी आदियों का देह है।

उपभोगदेह—जो पशु, पक्षी तथा कीटादि का देह है और जो कर्मफल भोगते ही पूरा हो जाता है।

उभयदेह—गृहस्थियों का देह।

मनुष्यों के अतिरिक्त सब भोग योनि हैं; इसलिये उनके लिये धर्माधर्म का विधान नहीं।

"न किञ्चिदप्यनुशयिनः" ॥ १२५ ॥

(अनुशयिनः) जो विरक्त हो गया है, उसका देह (न किञ्चिदपि) इन तीनों में से कोई नहीं।

जो विरक्त अर्थात् मुक्ति को प्राप्त हो गये हैं उनका शरीर इन तीनों में से कोई नहीं।

"न बुद्ध्यादिनित्यत्वमाश्रयविशेषेऽपिवह्निवत्" ॥१२६॥

(आश्रयविशेषेऽपि) जीवात्मा का विशेष आश्रय होने पर भी (न बुद्ध्यादिनित्यत्वम्) बुद्धि आदि नित्य नहीं है (वह्निवत्) आग की तरह।

जीवात्मा नित्य है। परन्तु उसका विशेष आश्रय जो बुद्धि आदि हैं; वे नित्य नहीं हैं; जैसे चन्दन का पाट शीतल होता है, परन्तु आग के संयोग से उसकी शीतलता आग में नहीं हो सकती।

"आश्रयासिद्धेश्च" ॥ १२७ ॥

आश्रय सिद्ध न होने से भी।

बुद्धि जीव का आश्रय नहीं हो सकती; क्योंकि जीवात्मा नित्य है और अपरिणामी है तथा बुद्धि जड़ और परिणामी है। इसलिये सर्वथा विभिन्न वस्तु जीवात्मा का आश्रय कैसे हो सकती है? केवल उपाधि मात्र से इन दोनों का सम्बन्ध होता है।

"योगसिद्धयोऽप्यौषधादिसिद्धिवन्नापलपनीयाः" ॥१२८॥

(योगसिद्धयोऽपि) योग सिद्धियां भी (औषधादिसिद्धिवत्) औषधादि सिद्धियों की तरह (नापलपनीयाः) अशुद्ध कहने के योग्य नहीं।

योग की सिद्धियां अशुद्ध नही हैं जिस प्रकार औषध आदि से लाभ होता है, इसी प्रकार उन से भी कुछ लाभ ही है।

"न भूतचैतन्यं प्रत्येकादृष्टेस्सांहत्येऽपि च-
सांहत्येऽपि च" ॥१२९॥

(प्रत्येकादृष्टेः) प्रत्येक भूत में न देखने से (सांहत्येऽपि) संहत होने की अवस्था में भी (सांहत्येऽपि) संहत होने की अवस्था में भी (न भूतचैतन्यम्) पंच भूतों की चेतनता नहीं है।

केवल पुरुष चेतन है। पञ्च महाभूत-(पृथ्वी, जल, आकाश वायु और तेज) इन में कोई भी चेतन नहीं और न ही ये सब मिल कर चेतन हैं।

सांहत्येऽपि का दो बार कहना अध्याय की समाप्ति का सूचक है।

❀ ओ३म् ❀

षष्ठ-अध्याय

षष्ठ अध्याय में पूर्व पांच अध्यायों का सार है। सब से पूर्व आत्मा की सिद्धि की गई है और बतलाया है कि आत्मा का मानना आवश्यक है क्योंकि इसके न होने में कोई प्रमाण नहीं है। विचित्र होने से यह आत्मा शरीरादि से पृथक् वस्तु है। जिस समय मैं यह कहता हूँ, "मेरी बुद्धि" ऐसा बोलने से भी मैं यह सिद्ध कर रहा हूँ कि मैं बुद्धि और मन से पृथक् वस्तु हूँ। वह पृथक् वस्तु ही आत्मा है—

आत्मा की सिद्धि करने के पश्चात् मनुष्य का उद्देश्य बतलाया गया है। मनुष्य का उद्देश्य है दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति। प्रतिवादी प्रश्न करता है कि मुक्ति की अवस्था तो सुख दुःख से ऊपर है। इसलिये केवल दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति क्यों कहा है? सुखों को भी अत्यन्त निवृत्ति आचार्य को कहनी चाहिये। कपिल मुनि उत्तर देते हैं कि मनुष्यों को दुःखों से जितना क्लेश होता है, उतना सुख नहीं होता। संसार में कितने पुरुष हैं जो वस्तुतः सुखी हों। दुःख संसार में अधिक है, इसलिये दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति को ही उद्देश्य बतलाया गया है। जो थोड़ा बहुत सुख भी है, वह दुःख से मिला हुआ है।

फिर प्रश्न उठता है कि जब किसी को पूर्णतया सुख मिलता

ही नहीं, तब मुक्ति के लिये प्रयत्न करना व्यर्थ है। कपिल मुनि उत्तर देते हैं कि सुख दो प्रकार का है—एक वह सुख जो मोक्ष का सुख है, उसमें दुःख नहीं मिला हुआ है और दूसरा वह सुख जो सांसारिक है, उसमें दुःख मिला हुआ है।

इसके पश्चात् मुनि अविवेक के विषय में जिस के कारण मनुष्य बन्धन में पड़ा हुआ है, विवेचना करते हैं। वे बतलाते हैं कि अविवेक प्रवाह रूप से अनादि है; परन्तु नित्य नहीं है। यदि नित्य मानेंगे, तब उसके नाश करने का उपाय करना व्यर्थ है। यह अविवेक कारण प्रतिनियत कारण से नष्ट हो जाता है; जैसे अन्धेरा प्रतिनियत कारण प्रकाश से दूर हो जाता है।

प्रतिवादी प्रश्न उपस्थित करता है कि क्या मुक्त को फिर बन्ध होता है? यदि वह पुनः बद्ध होता है, तो मुक्त और बद्ध में कोई भेद नहीं रहता; क्योंकि जो मुक्त नहीं है वह अब बंधा है और जो मुक्त है, उसको फिर बन्धन प्राप्त हो जायगा। कपिल मुनि कहते हैं कि विघ्न के नाश को ही मैं मुक्ति मानता हूं विघ्न ही दुःखों का मूल कारण है। यदि वह हट जाय, तो दुःखों से मनुष्य निवृत्त हो जाय। वे विघ्न निम्न हैं—

व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अवरति, भ्रान्ति-दर्शन, अलब्धभूमिकत्व, अनवस्था, श्वास, प्रश्वास, चित्तविक्षेप।

तीन प्रकार के अधिकारी हैं—उत्तम, मध्य और कनिष्ठ। केवल उपदेश मात्र से किसी का कल्याण हो जावे—यह आवश्यक नहीं। इसलिये श्रवण के पश्चात् मनन तथा

निदिध्यासन का करना आवश्यक है।

पद्मासन, सिद्धासन आदि भी लगाना कोई जरूरी नहीं। जिस प्रकार मनुष्य सुख पूर्वक और स्थिरता पूर्वक बैठ सके वही आसन है। मन को सर्वथा निर्विषय कर देना ही ध्यान है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि सुषुप्ति अवस्था के समय मन निर्विषय हो जाता है; इसलिये यदि मनुष्य अधिक समय तक नींद कर ले तो, उसका मन अधिक समय तक निर्विषय रहेगा। कपिल मुनि उत्तर देते हैं कि समाधि में विषयवासनाओं को रोकना पड़ता है। सुषुप्ति में तमोगुण के कारण विषय दबे हुए प्रतीत होते हैं, वे सर्वथा रुक नहीं जाते—जाग्रतावस्था में उनका पुनः प्रादुर्भाव होता है। परन्तु समाधि में वे विषय रुक जाते हैं और फिर उत्थानावस्था में उनका प्रादुर्भाव नहीं होता।

आत्मा स्वभाव से निःसंग है। इसलिये अविवेक के कारण ही उसकी विषयों में आसक्ति है। परन्तु आसक्ति का यह अर्थ नहीं कि वह बिल्कुल लम्पट हो जाता है; प्रत्युत उसको विषयासक्ति में अभिमान होता है। वह अभिमान धारणा, ध्यान, अभ्यास तथा वैराग्य से दूर हो सकता है। चित्तवृत्तियों को रोकने से वह अभिमान दूर हो जाता है। ऐसा अभ्यास करने के लिये कोई स्थान विशेष की आवश्यकता नहीं। परन्तु जहां चित्त प्रसन्न रहे वहीं अभ्यास करे।

इस सृष्टि का उपादान कारण प्रकृति है। आत्मा या पर-

आत्मा को सृष्टि का उपादान कारण कहना केवल एक भूल है। जो बातें उपादान कारण में हैं, वे आत्मा में नहीं दिखाई देतीं। सृष्टि जड़ है और आत्मा चेतन है। यदि आत्मा उसका उपादान कारण है, तो उसके अन्दर चेतनतादि गुण होने चाहियें; परन्तु ऐसा नहीं दिखलाई देता।

प्रकृति विभु है; क्योंकि उसके कार्य सब जगह दिखाई देते हैं। यदि कार्यों के ज्ञान से मुक्ति मानें, तो कार्य अनेक हैं, उनकी गणना नहीं हो सकती। इसलिये उन कार्यों या उन पदार्थों का जो मूल कारण प्रकृति है, उसके जानने से मुक्ति होगी। सत्व, रज और तम को भूल से प्रकृति का धर्म समझा जाता हैं। ये धर्म नहीं, प्रत्युत ये प्रकृति के रूप हैं। यद्यपि प्रकृति अपनी सृष्टि का स्वयं भोग नहीं करती; परन्तु उसकी सृष्टि पुरुष के लिये है। सृष्टि की विचित्रता कर्मों की विचित्रता के कारण है। जो पुरुष मुक्त हो जाता है, उसके लिये इस प्रकृति का विकसित होना बन्द हो जाता है।

इसके पश्चात् यह बतलाते हैं कि जीव अनेक हैं; क्योंकि प्रत्येक शरीर में उनकी अलग २ व्यवस्था दीखती है। परन्तु ईश्वर एक है।

वेदान्ती प्रश्न करता है; जैसे सूर्य एक है; परन्तु छाया के अनेक स्थानों में पड़ने से अनेक सूर्य दिखलाई पड़ते हैं, इसी प्रकार ईश्वर एक है; किन्तु शरीर रूपी उपाधियों के होने से अनेकत है। कपिल मुनि उत्तर देते हैं कि ऐसा मानने में

द्वैतवाद हो जायगा—एक ब्रह्म और दूसरी उपाधि। द्वैत और अद्वैत से हमारा कोई झगड़ा नहीं। ईश्वर अद्वितीय होने से अद्वैत कहलाता है और प्रकृति और जीवात्मा से भिन्न होने से वह ईश्वर द्वैत कहलाता है।

यदि कोई कहे कि परमात्मा सर्वव्यापक है, वह चाहे तो अपने आपको बड़ा भी बना सकता है, इसलिये वह अद्वैत है। कपिल मुनि कहते हैं कि ऐसी युक्ति अशुद्ध है; क्योंकि ऐसा मानने से कर्ता और कर्म एक हो जावेंगे—वही कर्ता और वही कर्म इस प्रकार की व्यवस्था अनुचित है।

कपिल मुनि के मत में जगत् मिथ्या नहीं है।

"जगत् सत्यत्वमदुष्टकारणजन्यत्वात् बाधकाभावात्"

संसार में जो कार्य हो रहे हैं, वे सब अहंवृत्ति जिसे अहंकार कहते हैं, उसके द्वारा हो रहे हैं। जीवात्मा अविवेक के कारण उन कार्यों को अपना कार्य समझ उनमें लिप्त हो जाता है और दुःख भोगता है। इसलिये भोगों का अन्त जीवात्मा में समझा गया है।

कई प्रतिवादी यह समझते हैं कि जीवात्मा के मानने की कोई जरूरत नहीं–प्राण ही इस शरीर का अधिष्ठाता है। यदि प्रारब्ध कर्मों के कारण प्राण को भी अधिष्ठाता मान लें, तो कपिल मुनि कहते हैं कि यह उचित नहीं; क्योंकि प्राण का प्रारब्ध के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। जैसे अंकुर के पैदा करने में जल भी कारण है, परन्तु बिना बीज के केवल जल अंकुर

पैदा नहीं कर सकता; इसी प्रकार शरीर की अनेक क्रियाएं प्राण से होती हैं, तो भी वह प्राण विना आत्मा में कोई क्रिया नहीं कर सकता।

अन्त में इस अध्याय को समाप्त करते हुए कई अन्य आचार्यों के मत पुरुष और प्रकृति के सम्बन्ध के विषय में बतलाये हैं।

पञ्चशिखाचार्य का मत है पुरुष और प्रकृति का स्वस्वाभिभाव सम्बन्ध कर्म की वासनाओं से नहीं है; किन्तु अविवेक से है—

"अविवेकनिमित्तो वा पञ्चशिखः"

सनन्दनाचार्य का मत है कि लिङ्ग शरीर के निमित्त प्रकृति और पुरुष का स्वस्वामिभाव सम्बन्ध है—लिङ्गशरीरनिमित्तक इति सनन्दनाचार्यः"।

प्रकृति और पुरुष का सम्बन्ध चाहे किसी ही कारण क्यूं न हो, किसी न किसी प्रकार से उसका नाश होना चाहिये—उसी को मोक्ष कहते हैं।

"यद्वा तद्वा तदुच्छित्तिः पुरुषार्थस्तदुच्छित्तिः पुरुषार्थः"

❀ ओ३म् ❀

षष्ठ-अध्याय

"अस्त्यात्मा नास्तित्वसाधनाभावात्" ॥१॥

(नास्तित्वसाधनाभावात्) न होने में कोई प्रमाण न होने से (अस्त्यात्मा) आत्मा है, यह स्पष्ट है।

आत्मा कोई पदार्थ अवश्य है; क्योंकि इसके न होने में कोई प्रमाण दिखलाई नहीं देता।

"देहादिव्यतिरिक्तोऽसौ वैचित्र्यात्" ॥२॥

(असौ) वह आत्मा (वैचित्र्यात्) विचित्रता होने से (देहादिव्यतिरिक्तः) देहादि से पृथक् भिन्न पदार्थ है।

आत्मा शरीरादि से एक जुदा पदार्थ है; क्योंकि उसका स्वभाव देहादि से सर्वथा विचित्र और भिन्न है; देहादि मरणधर्मा हैं, प्रत्युत वह अजर और अमर है; देहादि जड़ हैं, परन्तु वह चेतन है। इसलिये अपनी विचित्रता के रखने के कारण वह देहादि से विभिन्न कहा गया है।

"षष्ठीव्यपदेशादपि" ॥३॥

षष्ठी विभक्ति का प्रयोग होने से भी।

"मेरा मन" "मेरी बुद्धि" "मेरा शरीर"—ये षष्ठी विभक्ति के प्रयोग हैं। इनसे भी स्पष्ट है कि मैं आत्मा मन से, बुद्धि से तथा शरीर से कोई भिन्न वस्तु हूं।

"न शिलापुत्रवत् धर्मिग्राहकमानबाधात्" ॥४॥

(धर्मिग्राहकमानबाधात) धर्मिग्राहक प्रमाण से प्रतिषेध हो जाने के कारण मे (न शिलापुत्रवत) शिला के पुत्र के समान षष्ठी विभक्ति का प्रयोग नहीं होता।

यदि षष्ठी विभक्ति का प्रयोग निम्न प्रकार से किया जाय कि "पत्थर के पुत्र का शरीर" ऐसा कहने से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता; क्यों कि पत्थर का पुत्र तो पत्थर ही है। यहां विभिन्नता नहीं दिखलाई देती। "मेरा शरीर" ऐसा कहने से मैं अपने आपको शरीर से भिन्न प्रगट कर रहा हूँ। "शिला का पुत्र" तो शिला ही है।

पुरुष का उद्देश्य—

"अत्यन्त दुःखनिवृत्त्या कृतकृत्यता"॥५॥

(अत्यन्तदुःखनिवृत्त्या दुःखों के समूल नष्ट हो जाने से (कृतकृत्यता) सफलता प्राप्त होती है।

पुरुष का अन्तिम ध्येय सब प्रकार के दुःखों का समूल नष्ट करना है, या उनसे निवृत्त हो जाना है।

"यथा दुःखात्क्लेशः पुरुषस्य न तथा सुखाद्-
भिलाषः" ॥६॥

(यथा) जितना (दुःखात्) दुःख से (पुरुषस्य) पुरुष को (क्लेशः) क्लेश होता है (तथा) उतनी (न सुखादभिलाषः) सुख से अभिलाषा नहीं होती।

मनुष्य दुःख से जितना द्वेष करता है उतना सुख की

इच्छा नहीं रखता। प्रत्येक समय उसे यही ध्यान रहता है कि मुझे कोई दुःख न हो। इसलिये उद्देश्य बतलाते हुए दुःख की निवृत्ति पर अधिक बल दिया है। और दूसरा संसार में दुःख की मात्रा बहुत अधिक है।

"कुत्रापि कोऽपि सुखीति" ॥७॥

क्या कहीं कोई सुखी है ?

इस अनन्त सृष्टि में बहुत थोड़े व्यक्ति हैं, जो सर्वथा सुखी हैं। इसलिये दुःख की निवृत्ति को ही मनुष्य का उद्देश्य कहा गया है।

"तदपि दुःखशबलमिति दुःखपक्षे निःक्षिपन्ते विवेचकाः" ॥८॥

(तदपि) वह सुख भी (दुःखशबलमिति) दुःख से मिला हुआ है (दुःखपक्षे) इसलिये उस सुख को भी दुःख के पक्ष में (विवेचकाः) विवेकी पुरुष (निःक्षिपन्ते) संयुक्त करते हैं।

जो सुख भी यत्किञ्चित् है, वह भी दुःख से मिला हुआ है। इसलिये विवेकी पुरुषों से पुरुष का उद्देश्य स्थिर करते समय दुःख की निवृत्ति को ही मनुष्य का ध्येय निश्चित किया है।

"सुखलाभाभावादपुरुषार्थत्वमितिचेन्न द्वैविध्यात्" ॥९॥

(सुखलाभाभावात्) यदि सुख लाभ के अभाव से (अपुरुषार्थत्वम्) मुक्ति के लिये उपाय करना व्यर्थ है (इति चेन्न) ऐसा न माना जाय (द्वैविध्यात्) क्योंकि सुख दो प्रकार का है।

मनुष्य का ध्येय दुःख की अत्यन्त निवृत्ति है—यह कहा गया है। यदि यही उद्देश्य है, तो यह भावना नकारात्मक है। सुख तो कभी प्राप्त होगा नहीं। केवल दुःखों का अभाव हो जायगा। ऐसी अवस्था में मुक्ति के लिये प्रयत्न करना व्यर्थ है। कपिल मुनि कहते हैं—ऐसा मत कहो, क्योंकि सुख दो प्रकार का है—एक मुक्ति का सुख और दूसरा सांसारिक सुख। दुःख की निवृत्ति के पश्चात् सांसारिक सुख भले ही मनुष्य को न मिले; क्योंकि वह दुःख से मिला हुवा होता है, परन्तु मुक्ति का सुख उसे अवश्य प्राप्त होगा। इसलिये दुःखों की निवृत्ति का उपाय करना कोई व्यर्थ नहीं और यही मनुष्य का उद्देश्य है।

"निर्गुणत्वमात्मनाऽसंगत्वादिश्रुतेः" ॥१०॥

(आत्मनः) आत्मा का मुक्ति अवस्था में (असङ्गत्वादिश्रुतेः) श्रुति द्वारा इस विकृति से संग रहित होना, ऐसा पता लग जाने से (निर्गुणत्वम्) उस आत्मा को निर्गुण कहा गया है।

आत्मा मुक्ति अवस्था में इस संसार के संग से रहित होने के कारण निर्गुण कहा गया है—ऐसा श्रुति द्वारा प्रमाणित है।

अविवेक दुःखों का मूल कारण है।

"परधर्मत्वेऽपि तत्सिद्धिरविवेकात्" ॥११॥

(परधर्मत्वेऽपि) सुख दुःख, शीतोष्ण परधर्म होने पर भी (अविवेकात्) अविवेक के कारण (तत्सिद्धिः) उस आत्मा में सिद्ध होते हैं।

यद्यपि सुखदुःखादि प्रकृति के संयोग से आत्मा में प्रतीत

होते हैं; किन्तु वस्तुतः ये उसके अपने स्वभाव में नहीं हैं। अविवेक के कारण आत्मा उन्हें अपने धर्म समझता है।

"अनादिरविवेकोऽन्यथा दोषद्वयप्रसक्तेः" ॥१२॥

(अनादिरविवेकः) अविवेक प्रवाह रूप से चित्त का अनादि धर्म है (अन्यथा) वरना (दोषद्वयप्रसक्तेः) दो दोष पैदा हो जायेंगे।

अविवेक को प्रवाह रूप से अनादि मानना चाहिये। वरना प्रश्न उपस्थित होगा कि यह कहाँ से पैदा हुआ। यदि कहें कि कर्मों से पैदा हुआ तो फिर प्रश्न होगा कि वह कर्म किनसे उत्पन्न हुए? यदि कहा जाय कि प्रकृति और पुरुष के संयोग से पैदा हुआ, तो जिनसे पैदा हुआ उसी को ही बांधे--यह भी उचित नहीं। इसलिये शास्त्रकारों ने अविवेक को प्रवाह रूप से अनादि माना है।

यह अविवेक अनादि है, नित्य नहीं है।

"न नित्यस्स्यादात्मवदन्यथानुच्छित्तिः"॥१३॥

(न नित्यः स्यात्) इस अविवेक को नित्य न समझा जावे (आत्मवत्) आत्मा की तरह (अन्यथाऽनुच्छित्तिः) वरना इसका नाश नहीं हो सकेगा।

अविवेक अनित्य है। यदि आत्मा की तरह इसे भी नित्य मान लेंगे, तो इसका नाश नहीं हो सकेगा। और यदि नाश नहीं हुआ तो मुक्ति नहीं हो सकेगी।

"प्रतिनियतकारणनाश्यत्वमस्यध्वान्तवत्"॥१४॥

(ध्वान्तवत्) अंधेरे की तरह (अस्य) इस अविवेक का (प्रतिनियतकारणनाश्यत्वम्) प्रतिनियत कारण में इसका नाश है।

जैसे अन्धेरा प्रकाशरूप प्रतिनियत कारण से नाश हो जाता है; इसी प्रकार अविवेक भी विवेकरूप प्रतिनियत कारण से नष्ट हो जाता है। किसी वस्तु के नाश करने का एक निश्चित कारण हो, और कोई कारण न हो, उसे प्रतिनियत कारण कहते हैं।

"अत्रापिप्रतिनियमोऽन्वयव्यतिरेकात्"॥१५॥

(अत्रापि) इसमें भी (अन्वयव्यतिरेकात्) अन्वय व्यतिरेक से (प्रतिनियमः) प्रतिनियम है।

इस अविवेक के नाश करने में भी अन्वयव्यतिरेक से निश्चय कर लेना चाहिये। अमुक कारण से अमुक कार्य का होना अनिवार्य है; यदि अमुक कारण नहीं होगा, तो अमुक कार्य नहीं हो सकेगा—इसे अन्वय-व्यतिरेक कहते हैं। विवेक से अविवेक का नाश होगा। यदि विवेक नहीं होगा, तो अविवेक भी नष्ट नहीं होगा। इस अन्वयव्यतिरेक से अविवेक को दूर करने का प्रतिनियत कारण विवेक को समझना चाहिये।

"प्रकारान्तरासम्भवादविवेक एव बन्धः"॥१६॥

(प्रकारान्तरासम्भवात) अन्य प्रकार सम्भव होने से (अविवेक एव बन्धः) अविवेक ही बन्ध का कारण है।

अविवेक के कारण ही पुरुष को बन्ध या दुःख होता है। इसलिये इसे ही बन्ध का कारण समझा जाय। और कोई कारण दिखलाई नहीं देता।

क्या मुक्ति से मनुष्य वापिस लौटता है? एक प्रतिवादी निम्न सूत्रों में इस आशय को जाहिर करता है।

"न मुक्तस्य पुनर्बन्धयोगोऽप्यनावृत्तिश्रुतेः"॥१७॥

(न मुक्तस्य पुनर्बन्धयोगोऽपि) मुक्त का फिर बन्ध में आना सम्भव नहीं (अनावृत्तिश्रुतेः) श्रुति में मुक्ति से पुनः बन्ध की आवृत्ति न होने का प्रमाण होने से।

प्रतिवादी कहता है कि जब पुरुष एक बार मुक्त हो जाता है; फिर उसका बन्ध नहीं होता; क्योंकि श्रुति में लिखा है—

"न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तते"

वह फिर वापिस नहीं लौटता।

"अपुरुषार्थत्वमन्यथा"॥१८॥

अन्यथा पुरुषार्थ होना सिद्ध नहीं होगा।

"अविशेषापत्तिरुभयोः"॥१६॥

तब बद्ध और मुक्त में कोई विशेषता नहीं होगी; क्योंकि बद्ध तो इस समय मुक्त नहीं और जो मुक्त हो जायेगा, उसे फिर बन्धन में पड़ना है। इसलिये दोनों में कोई विशेष भेद प्रतीत नहीं होगा। यह प्रश्न है, जो उपरोक्त तीन सूत्रों में किया गया है। इनका कपिल मुनि उत्तर देते हैं।

"मुक्तिरन्तरायध्वस्तेर्न परः"॥२ ॥

अन्तराय (विघ्न) के नाश होने के अतिरिक्त और कोई मुक्ति नहीं है।

मुक्ति तो केवल उन विघ्नों के नाश का नाम है, जो अवि-वेक द्वारा उपस्थित हो गये हैं। शरीर के होते हुए भी वे विघ्न दूर हो सकते हैं, और शरीर के न रहने पर भी वे हट सकते हैं। दोनों में कोई भेद नहीं। इसलिये मुक्ति शरीर के होते हुए भी हो सकती है।

"तत्राप्यविरोधः" ॥२१॥

उसमें भी अविरोध है।

पहले अध्याय में कहा है कि दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति का नाम मुक्ति है। इस अध्याय में कहा गया है कि विघ्नों के दूर करने का नाम मुक्ति है। कपिल मुनि कहते हैं कि दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति और विघ्नों का विध्वंस होना यह कोई विरोध नहीं, प्रत्युत यह एक ही बात है।

"अधिकारित्रैविध्यान्ननियमः" ॥२२॥

(अधिकारित्रैविध्यात्) उत्तम, मध्यम तथा कनिष्ठ अधिकारी तीन प्रकार के होते हैं (न नियमः) नियम नहीं है।

विवेक ज्ञान के इच्छुक तीन प्रकार के अधिकारी हैं—उत्तम मध्यम तथा कनिष्ठ। इस लिये यह कहना कि श्रवण मात्र से सब को ज्ञान हो जाय, यह व्यवस्था ठीक नहीं। श्रवण के अतिरिक्त मनन तथा निदिध्यासनादि का भी अभ्यास करना उचित है।

"दार्ढ्यार्थमुत्तरेषाम्" ॥२३॥

(दार्ढ्यार्थम्) दृढ़ होने के लिये (उत्तरेषाम्) उत्तर नियमों का (पालन) करना आवश्यक है।

विघ्नादि दोषों को दृढ़ता पूर्वक दूर करने के लिये श्रवण से उत्तर जो मनन निदिध्यासनादि नियम हैं; उन का पालन करना आवश्यक है।

"स्थिरसुखमासनमिति न नियमः" ॥२४॥

जिस में पुरुष स्थिरता पूर्वक तथा सुख पूर्वक बैठ सके, वही आसन है। जो सिद्धासन या पद्मासन आदि का विधान है, उस का कोई नियम नहीं है।

"ध्यानं निर्विषयं मनः" ॥२५॥

जिस में मन निर्विषय हो जाय, वही ध्यान है और उसी ध्यान में ही समाधि होजाती है।

"उभयथाप्यविषेशश्चेन्नैवमुपरागनिरोधात्" ॥२६॥

(उभयथाऽपि) दोनों प्रकार में भी (अविशेषश्चेत) यदि भेद न माना जाय (नैवम्) ऐसा नहीं (उपरागनिरोधात्) विषय वासना में निरोध होने से।

यदि यह कहा जाय कि योगावस्था (समाधि अवस्था) और अयोगावस्था (सुषुप्तिअवस्था) में कोई भेद नहीं, तो यह अशुद्ध है; क्यों कि समाधि अवस्था में विषय वासनाओं का उपराग नहीं रहता वह रुकी हुई होती हैं और सुषुप्ति अवस्था में उस के संस्कार उपस्थित रहते हैं।

"निसङ्गेऽप्युपरागोऽविवेकात्" ॥२७॥

(निसङ्गेऽपि) संग रहित में भी (अविवेकात्) अविवेक से (उपरागः) उपराग होता है।

यद्यपि आत्मा स्वभाव से असंग है, परन्तु अविवेक के कारण विषयों में उसका उपराग हो जाता है।

"जपास्फटिकयोरिवनोपरागः किन्त्व-
भिमानः" ॥२८॥

(जपास्फटिकयोरिव) गोडहर के फूल और स्फटिक मणि की तरह (नोपरागः) उपराग नहीं है (किन्त्वभिमानः) प्रत्युत अभिमान है।

जिस प्रकार गोडहर के फूल और स्फटिक मणि के परस्पर संसर्ग से उपराग है; उस प्रकार का उपराग पुरुष में नहीं है, किन्तु अविवेक के कारण पुरुष में विषय वासनाओं का अभिमान है ऐसा कहना चाहिये।

"ध्यानधारणाभ्यासवैराग्यादिभिस्तन्नि-
रोधः" ॥२९॥

ध्यान, धारणा, अभ्यास तथा वैराग्यादि से उन वासनाओं को रोका जा सकता है।

"लयविक्षेपयोर्व्यावृत्त्येत्याचार्याः" ॥३०॥

(लयविक्षेपयोः) निद्रा तथा प्रमाणादि पांच वृत्तियों का (व्यावृत्य) निवृत्त होना (इत्याचार्याः) यह कई आचार्यों का मत है।

कई आचार्यों का मत है कि पांच प्रकार की वृत्तियां जो योग

दर्शनादि में लिखी हैं, उनके रुक जाने से वासनाओं का नाश हो जाता है।

"न स्थाननियमश्चित्तप्रसादात्" ॥३१॥

(चित्तप्रसादात्) जहां चित्त प्रसन्न रहे, वहीं पर ध्यानादि करने से (न स्थाननियमः) किसी स्थान विशेष का नियम नहीं है।

जहां पर चित्त प्रसन्न रहे, वहीं पर ध्यानादि का अभ्यास करे। किसी विशेष स्थान पर जाकर अभ्यास करने का नियम नहीं है।

प्रकृति ही इस सृष्टि का उपादान कारण है।

"प्रकृतेराद्योपादानताऽन्येषां कार्यत्वश्रुतेः" ॥३२॥

(अन्येषां कार्यत्वश्रुतेः) औरों का कार्य सुनने से (प्रकृतेराद्योपादानता) प्रकृति को ही इस सृष्टि का उपादानकारण माना गया है।

महदादि को प्रकृति का कार्य माना है, इसलिये प्रकृति इस सारी सृष्टि का उपादान कारण है।

आत्मा या परमात्मा इस सृष्टि का उपादान कारण नहीं।

"नित्यत्वेऽपि नात्मनो योग्यत्वाभावात्" ॥३३॥

(नित्यत्वेऽपि) नित्य होते हुए भी (नात्मनः) आत्मा का (उपादानकारण) होना सम्भव नहीं।

आत्मा नित्य है, फिर भी वह इस सृष्टि का उपादान कारण नहीं; क्योंकि उपादान कारण के लिये जो योग है, वह आत्मा में नहीं—आत्मा चेतन है और सृष्टि अचेतन है, कारण और

कार्य का योग चाहिये। यदि आत्मा को सृष्टि का कारण मान लिया जाय तो सृष्टि भी आत्मा की तरह चेतन होनी चाहिये।

"श्रुतिविरोधान्न कुतर्कापसदस्यात्मलाभः" ॥३४॥

(श्रुतिविरोधात) श्रुति विरोध से (कुतर्कापसदस्य) कुतर्क करने वाले को (नात्मलाभः) आत्मा का लाभ नहीं होता।

शास्त्र विरुद्ध बात करने वाले कुतर्की को आत्मा का लाभ नहीं हो सकता।

"पारम्पर्येऽपि प्रधानानुवृत्तिरणुवत्" ॥३५॥

(पारम्पर्येऽपि) परम्परा क्रम के होने के कारण (प्रधानानुवृत्तिः) प्रकृति की अनुवृत्ति स्पष्ट है (अणुवत्) अणु की तरह।

परम्परा सम्बन्ध से प्रकृति को सब का कारण मानना चाहिये। जैसे घड़े आदि का कारण अणु है और अणु का कारण परमाणु है, इसी प्रकार अन्तिम सबका कारण प्रकृति है।

"सर्वत्रकार्यदर्शनात् विभुत्वम्" ॥३६॥

(सर्वत्र) सब जगह (कार्यदर्शनात्) कार्य देखने से (विभुत्वम्) प्रकृति विभु है।

सब जगह प्रकृति के कार्य दिखाई देते हैं, इसलिये प्रकृति का विभु होना विदित होता है।

"गतियोगेऽप्याद्यकारणताहानिरणुवत्" ॥३७॥

(गतियोगेऽपि) क्रिया का योग होने पर भी (आद्यकारणता)

प्रकृति को सबसे आदिकारण मानने में (अहानिः) कोई हानि नहीं हैं (अणुवत) अणु के समान।

सूत्र ३६ में कहा है कि प्रकृति विभु है। जो विभु है, उस में क्रिया का योग नहीं होता। परन्तु प्रकृति में क्रिया का योग विद्यमान है। इस लिये वह विभु नहीं हो सकती और न ही मूल कारण होसकती है। कपिल मुनि उत्तर देते हैं कि यह ठीक नहीं। प्रकृति की क्रिया केवल परस्पर संयोग होने के लिये है। इस लिये त्रिगुणात्मक प्रकृति की क्षोभरूप क्रिया श्रुतिस्मृति में विदित है। प्रकृति को मूल कारण मानने में कोई हानि नहीं। जैसे वैशेषिक मत में क्रियावान् पार्थिव आदि अणुओं को मूल कारण माना जाता है। क्रियावान् होने से मूल कारण में कोई हानि नहीं होती। इसलिये प्रकृति ही इस सृष्टि का मूल कारण है।

"प्रसिद्धाधिक्यं प्रधानस्य न नियमः"॥३८॥

(प्रधानस्य) प्रकृति का (प्रसिद्धाधिक्यम्) सबसे अधिक प्रसिद्धि है (न नियमः) इसलिये कोई नियम नहीं।

कई आचार्य तीन द्रव्य मानते हैं, कई ६ द्रव्य और कई १६ द्रव्य मानते हैं। परन्तु प्रकृति उन सब से अधिक प्रसिद्ध दिखलाई दे रही है। अर्थात् जो कार्य दिखलाई दे रहे हैं, वे सब उसी के ही हैं। इसलिये प्रकृति को मूल कारण समझा जाय।

"सत्वादीनामतद्धर्मत्वं तद्रूपत्वात्"॥३६॥

(सत्वादीनाम्) सत्व, रज तथा तम आदिकों का (तद्रूपत्वात) प्रकृति के रूप होने से (अतद्धर्मत्वम्) उसका धर्म नहीं है।

सत्व, रज तम ये प्रकृति के धर्म नहीं हैं, प्रत्युत प्रकृति के रूप हैं।

"अनुपभोगेऽपि पुमर्थं सृष्टिः प्रधानस्योष्ट्रकुङ्कुमवहनवत्"॥४०॥

(अनुपभोगेऽपि) प्रकृति के स्वयं भोग न करते हुए भी (प्रधानस्यसृष्टिः) प्रकृति की सृष्टि (पुमर्थम्) पुरुष के लिये है (उष्ट्रकुंकुमवहनवत) ऊंट का केसर ढोकर ले जाने के समान।

यद्यपि प्रकृति स्वयं नहीं भोग कर सकती तथापि उसकी सृष्टि पुरुष के लिये है। जैसे ऊंट अपने स्वामी के लिये केसर ढोकर ले जाता है; इसी प्रकार प्रकृति पुरुष के लिये यह सब कुछ सृष्टि करती है।

"कर्मवैचित्र्यात् सृष्टिवैचित्र्यम्"॥४१॥

(कर्मवैचित्र्यात) कर्म की विचित्रता से (सृष्टि वैचित्र्यम्) सृष्टि की विचित्रता है।

अनेक प्रकार के कर्मों की विचित्रता से अनेक प्रकार की सृष्टि दिखलाई देती है।

"साम्यवैषम्याभ्यां कार्यद्वयम्" ॥ ४२ ॥

समता और विषमता से दो कार्य होते हैं।

जब सत्व रज और तम में समता होती है, तब सृष्टि का

प्रलय होता है; और जब इस में विषमता होती है, तब सृष्टि की उत्पत्ति होती है ये ही दो कार्य हैं।

"विमुक्तबोधान्न सृष्टिः प्रधानस्य लोकवत्"॥४३॥

(विमुक्तबोधात) पुरुष को आत्मिक ज्ञान होने से (लोकवत्) लोक के समान (प्रधानस्य) प्रकृति का (न सृष्टिः) सृष्टि करना आवश्यक नहीं।

जब पुरुष को अपना साक्षात्कार हो गया, तब प्रकृति उस मनुष्य के लिये सृष्टि नहीं करती। संसार में भी यही बात दीखती है। मन्त्री आदि जब राजा का काम समाप्त कर चुके तब न तो राजा को उनकी आवश्यकता प्रतीत होती है और न ही वे स्वयं राजा के लिये प्रवृत्त होते हैं।

"नान्योपसर्पणेऽपि मुक्तोपभोगो निमित्ताभावात्"॥४४॥

(नान्योपसर्पणेऽपि) अन्य जो बद्ध हैं उनके पास प्रकृति का गमन होने पर भी (निमित्ताभावात्) कारण हट जाने से (न मुक्तोपभोगः) मुक्त पुरुष को प्रकृति बांध नहीं सकती।

जब तक मनुष्य अविवेक में ग्रस्त है, तब तक प्रकृति में बद्ध है। जब विवेक हो गया तब प्रकृति उस मुक्त पुरुष को नहीं बांध सकती; क्योंकि बन्ध का कारण जो अविवेक था वह उस मुक्त पुरुष से दूर हो गया।

आत्मा अनेक हैं।

"पुरुषबहुत्वं व्यवस्थातः" ॥ ४५ ॥

पुरुष अनेक हैं; क्योंकि प्रत्येक शरीर में उनकी अलग २ व्यवस्था दिखलाई देती है। कई जीव सुखी हैं और कई जीव दुःखी हैं। इस अवस्था भेद से भी स्पष्ट है कि जीव अनेक हैं। ईश्वर एक है।

"उपाधिश्चेत् तत्सिद्धौ पुनर्द्वैतम्" ॥४६॥

(उपाधिश्चेत) यदि उपाधि मानी जाय (तत्सिद्धौ) उसके सिद्ध होने में (पुनर्द्वैतम्) फिर द्वैत है।

यदि कहा जाय कि आत्मा तो एक है, परन्तु उपाधि भेद से वह अनेक दिखलाई देता है। ऐसा मानने से द्वैत सिद्ध होगा फिर अद्वैतवाद नहीं रहेगा।

"द्वाभ्यामपिप्रमाणविरोधः" ॥४७॥

(द्वाभ्यामपि) दो से भी (प्रमाणविरोधः) प्रमाण का विरोध होगा।

यदि दो वस्तुएं मानें, एक अविद्या (उपाधि) और दूसरा आत्मा तो ऐसा अङ्गीकार करने से भी अद्वैतवाद के प्रमाण का विरोध स्पष्ट है।

"द्वाभ्यामप्यविरोधान्न पूर्वमुत्तरञ्च साधका-भावात्" ॥४८॥

(द्वाभ्यामप्यविरोधात) दो से विरोध न होने से (पूर्वमुत्तरम्) पूर्व और उत्तर (साधकाभावान्न) हेतु के अभाव से नहीं हो सकते।

यदि आत्मा और अविद्या इन दो पदार्थों की विद्यमानता में भी कोई विरोध न मानते और फिर भी अद्वैतवाद को सिद्ध

करने की कोशिश करते हैं, तो उनका यह काम विना हेतु के है। वे आत्मा और उपाधि या अविद्या इन दो का होना सम्भव समझते हैं और हम आत्मा और प्रकृति इन दो पदार्थों को मानते हैं। इसलिये हमारा उनसे कोई विरोध नहीं। केवल प्रश्न तो यह है कि इन दो के मानते हुए क्या हम अद्वैतवादी रह सकते हैं ? उत्तर है—कदापि नहीं। इसलिये अद्वैतवाद सिद्ध नहीं हो सकता।

"प्रकाशतस्तत्सिद्धौ कर्मकर्तृविरोधः" ॥४९॥

(प्रकाशतः) प्रकाश से (तत्सिद्धौ) उसकी सिद्धि होने में (कर्मकर्तृविरोधः) कर्म और कर्ता का विरोध है।

अद्वैतवादी कहा करते हैं कि ब्रह्म प्रकाशस्वरूप है और जो कुछ वह करना चाहे कर सकता है। कर्त्ता भी वही और कर्म भी वही, ऐसा कहना अयुक्तियुक्त है। प्रकाशक भी वही और प्रकाश्य भी वही यह कैसे हो सकता है ?

"जडव्यावृत्तो जडं प्रकाशयति चिद्रूपः" ॥५०॥

(चिद्रूपः) चैतन्य रूप (जडव्यावृत्तः) जड़ से भिन्न (जडं प्रकाशयति) जड़ को प्रकाशित करता है।

आत्मा चेतन है और वह इस जगत जड़ से भिन्न है। और इसके अन्दर जो प्रकाश दिखलाई देता है, वह सब उसी का दिया हुआ है।

"न श्रुतिविरोधो रागिणां वैराग्याय-
तत्सिद्धेः" ॥५१॥

(रागिणां वैराग्याय) विषयासक्त पुरुषों के अन्दर वैराग्य पैदा करने के लिये (तत्सिद्धेः) उसकी सिद्धि होने से (न श्रुतिविरोधः) श्रुतियों में विरोध नहीं है।

कपिल मुनि कहते हैं कि जिन श्रुति वाक्यों से अद्वैतवाद की झलक दिखलाई देती है, वे केवल इसलिये हैं कि विषयासक्त पुरुषों के अन्दर वैराग्य उत्पन्न किया जावे।

"जगत्सत्यत्वमदुष्टकारणजन्यत्वाद्बाधकाभावात्" ॥५२॥

(जगत्सत्यत्वम्) जगत् का सत्य होना सिद्ध है (अदुष्टकारणजन्यत्वात्) अशुद्ध या दुष्ट कारण द्वारा उत्पन्न न होने से (बाधकाभावात्) और किसी समय में भी इसकी रोक न देखने से।

जगत् सत्य है; क्योंकि जो इसका मूल कारण प्रकृति है वह नित्य है और किसी समय भी इसका बाध नहीं दीखता।

"प्रकारान्तरासम्भवात् सदुत्पत्तिः" ॥५३॥

(प्रकारान्तरासम्भवात्) अन्य प्रकार से उत्पन्न होना सम्भव न होने से (सदुत्पत्तिः) सत् से इसकी उत्पत्ति है।

इस जगत् का कोई और कारण सिद्ध नहीं हो सकता। इस लिये इसकी उत्पत्ति सत पदार्थ प्रकृति से हुई है।

"अहङ्कारः कर्त्ता न पुरुषः" ॥५४॥

संकल्प विकल्प का कर्त्ता मन है और मन की उत्पत्ति अहङ्कार से है; इसलिये अहंकार को कर्त्ता कहा गया है। पुरुष

अविवेक के कारण मनादि से संयुक्त होने के कारण कर्ता तथा भोक्ता है अन्यथा पुरुष स्वभाव से द्रष्टा है।

"चिद्वासना भुक्तिस्तत्कर्मार्जितत्वात्" ॥५५॥

(भुक्तिः) भोग का (चिद्वासना) अन्त चेतन में है (तत्कर्मार्जितत्वात) उसके कर्म में सञ्चित होने से।

अहंकार के कर्त्ता होने पर भी भोग चेतन में ही प्राप्त होता है अर्थात् भोक्ता जीव ही है; क्योंकि वे भोग जीव के कर्मों से होते हैं। इसलिये भोगों का अन्त जीव में ही मानना चाहिये।

"चन्द्रादिलोकेऽप्यावृत्तिर्निमित्तसद्भावात्" ॥५६॥

(चन्द्रादिलोकेऽपि) चन्द्र आदि लोक के जीवों में (आवृत्तिः) मुक्ति से आवृत्ति होती है (निमित्तसद्भावात) भोग के निमित्त अविवेक कर्म आदि सत् होने से।

जो जीव चन्द्रादि लोक में रहते हैं, उनकी मुक्ति के पश्चात् पुनः आवृत्ति होती है अर्थात् वे पुनः बन्ध में पड़ते हैं।

"लोकस्य नोपदेशात्सिद्धिः पूर्ववत्" ॥५७॥

(पूर्ववत्) पूर्व के समान (लोकस्योपदेशात्) लोक के उपदेश से (न सिद्धिः) सिद्धि नहीं होती।

जिस प्रकार यहां केवल श्रवण मात्र अर्थात् उपदेश मात्र से मोक्ष मिल नहीं जाता; इसी प्रकार चन्द्रादि लोकों में भी केवल श्रवणमात्र अर्थात् उपदेशमात्र से मुक्ति नहीं हो जाती। श्रवण के पश्चात् मनन तथा निदिध्यासन आवश्यक है।

"पारम्पर्येण तत्सिद्धौ विमुक्तिश्रुतिः" ॥५८॥

(पारम्पर्येण) परम्परा से (तत्सिद्धौ) उसकी सिद्धि में (विमुक्ति-श्रुतिः) मोक्ष का होना सुना जाता है।

जो मुक्ति को प्राप्त करने के लिये जन्म जन्मान्तरों से प्रयत्न करते चले आ रहे हैं, उनको इस जीवन में श्रवणमात्र से ही सिद्धि प्राप्त हो जाती है। अन्य साधनों के करने की आवश्यकता नहीं रहती।

"गतिश्रुतेश्च व्यापकत्वेऽप्युपाधियोगाद्भोगदेश-काललाभो व्योमवत्" ॥५९॥

(व्योमकत्वेऽपि) शरीर में व्यापक होने पर भी (उपाधियोगात्) उपाधि के योग से (गतिश्रुते:) गति सुनने से (व्योमवत) आकाश के समान (देशकाललाभ:) आत्मा में देश और काल का योग इसमें माना जाता है।

हमारी आत्मा हमारे शरीर में व्याप्त है। इस शरीर की उपाधि से उस आत्मा में देशान्तर गमन और समय का योग माना जाता है। वस्तुत: आत्मा देश और काल से जुदा है। जैसे आकाश व्याप्त होता हुआ भी घट को दूसरी जगह ले जाता है; इसी प्रकार हमारी आत्मा में देशान्तर गमन समझना चाहिये।

"अनधिष्ठितस्य पूतिभावप्रसङ्गान्न तत्सिद्धिः" ॥६०॥

(अनधिष्ठितस्य) अनिधिष्ठत के (पूतिभावप्रसङ्गात्) पूतिभाव के प्रसङ्ग होने से (न तत्सिद्धिः) उसकी सिद्धि नहीं है।

यदि आत्मा इस शरीर का अधिष्ठाता न हो तो शरीर में दुर्गन्ध आने लगे। इस कारण प्राण को शरीर का अधिष्ठाता नहीं कह सकते।

"अदृष्टद्वाराचेदसम्बद्धस्य तदसम्भवात् जलादिवदङ्कुरे" ॥६१॥

(असम्बद्धस्य) सम्बन्ध रहित का (प्राण को) (अदृष्टद्वाराचेत्) यदि विना देखे या जाने शरीर का अधिष्ठाता बना दिया जाय (तदसम्भवात्) वह सम्भव न होने से (अंकुरे) अंकुर में (जलादिवत्) जलादि के समान।

यदि विना सोचे-समझे प्राण को शरीर का अधिष्ठाता बना दिया जाय, तो यह सम्भव नहीं है। जिस प्रकार बीज के विना अङ्कुर नहीं हो सकता, यद्यपि अंकुर के पैदा होने में पानी भी कारण है; इसी प्रकार आत्मा के विना शरीर काम नहीं कर सकता। यद्यपि प्राण भी शरीर के चलाने में एक हेतु है।

"निर्गुणत्वात् तदसम्भवादहङ्कारधर्मा ह्येते" ॥६२॥

(निर्गुणत्वात्) निर्गुण होने से (तदसम्भवात्) उसके असम्भव होने से (एतेऽहङ्कारधर्माः) ये अहङ्कार के धर्म हैं।

आत्मा निर्गुण है। इसलिये इन्द्रियां, तथा मन सब अहङ्कार द्वारा ही कार्य करते हैं।

"विशिष्टस्य जीवत्वमन्वयव्यतिरेकात्" ॥६३॥

(अन्वयव्यतिरेकात्) अन्वयव्यतिरेक से (विशिष्टस्य) विशिष्ट का (जीवत्वम्) जीवत्व है।

संयोग वियोग के देखने से स्पष्ट है कि अहङ्कार सहित पुरुष का जीवत्व धर्म है और अहङ्कार रहित पुरुष का मुक्तरूपत्व है।

"अहंकारकर्माधीना कार्यसिद्धिर्नेश्वराधीना प्रमाणा-भावात्"॥६४॥

(अहंकारकर्माधीना) अहंकार ही धर्मादि कार्यों को कराने वाला है (नेश्वराधीना) यह ईश्वर के आधीन नहीं है (प्रमाणाभावात्) प्रमाण के अभाव से।

अहंकार युक्त जीव सब कर्मों को करता है। यह कहना कि सब कार्य ईश्वर के आधीन हैं, वही सब कार्य कराता है, यह अशुद्ध है यदि ऐसा माना जावे तो फल देने वाला कौन होगा ? वही कराने वाला और वही फल देने वाला-यह कैसे होसकता है ?

"अदृष्टोद्भूतिवत्समानत्वम्"॥६५॥

(अदृष्टोद्भूतिवत्) अदृष्ट की प्रगटता के तुल्य (समानत्वम्) समानत्व है।

जिस प्रकार कोई पदार्थ अदृष्ट है, उसका अनुमान लगा कर देख लिया जाता है; इसी प्रकार अहंकार यद्यपि हमें दिखलाई नहीं देता, प्रत्युत अनुमान से यह जान लिया जाता है कि अहंकार युक्त जीव ही सब कर्म करता और कराता है।

"महतोऽन्यत्"॥६६॥

अन्य महत्तत्व से।

इसी प्रकार इन्द्रियों की तन्मात्राओं का कर्त्ता भी अहंकार ही है।

"कर्मनिमित्तः प्रकृतेः स्वस्वाभिभावोऽप्यनादिबीजाङ्कुरवत्"॥६७॥

(प्रकृतेः) प्रकृति का (स्वस्वाभिभावोऽपि) अपना और अपने स्वामी

का भाव होना भी (कर्मनिमित्तः) कर्मों के निमित्त से है (अनादिबीजाङ्कुरवत्) बीज और अङ्कुर के समान अनादि है।

प्रकृति और पुरुष का स्वभाविक सम्बन्ध भी पुरुष के कर्मों की वासना से अनादि ही मानना चाहिये; जैसे, बीज और अङ्कुर को अनादि माना गया है।

"अविवेकनिमित्तो वा पञ्चशिखः"॥६८॥

प्रकृति और पुरुष का सम्बन्ध कर्म की वासनाओं से नहीं है, किन्तु अविवेक से है—ऐसा पञ्चशिखाचार्य मानते हैं।

"लिङ्गशरीरनिमित्तक इति सनन्दनाचार्यः" ॥६९॥

सनन्दनाचार्य लिंग शरीर के निमित्त प्रकृति और पुरुष का सम्बन्ध मानते हैं।

"यद्वा तद्वा तदुच्छित्तिःपुरुषार्थस्तदुच्छित्तिः पुरुषार्थः"॥७०॥

(यद्वा तद्वा) चाहे किसी प्रकार से सम्बन्ध हो (तदुच्छित्तिः) उस सम्बन्ध का नाश (पुरुषार्थः) पुरुषार्थ है (तदुच्छित्तिः पुरुषार्थः) उस सम्बन्ध का नाश ही पुरुषार्थ है।

चाहे प्रकृति और पुरुष का सम्बन्ध अथवा उपराग किसी कारण से क्यों न हो, उस सम्बन्ध का नाश करना ही मोक्ष है। उस सम्बन्ध का नाश करना ही मोक्ष है। "तदुच्छित्तिः-पुरुषार्थः" का दो बार प्रयोग अध्याय की समाप्ति का सूचक है।

शुद्धि-पत्र

अशुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	शुद्ध
१—याग	२०	१	योग
२—हाता	२०	१	होता
३—ह	३२	५	है
४—हाने	३२	११	होने
५—आकार	३५	१८	आकाश
६—का	३५	५	की
७—विवेक मुक्त:	४६	१६	विवेक युक्त
८—तक	५१	१२	तर्क
९—साधम्य	६३	१६	साधर्म्य
१०—परिणामात् (परिणामसे	६४	६	परिमाणात् (परिमाण से)
११—कर्त्तत्व	८५	१८	कर्तृत्व
१२—हा	९१	६	हो
१३—प्रत्येकादृष्ट:	११३	९	प्रत्येकादृष्टः
१४—गइ	१२९	९	गई
१५—दाष	१३०	१५	दोष
१६—पिशच	१४२	४	पिशाच
१७—रन्तु	१४३	१५	परन्तु
१८—काल नियमा	१४९	१०	काल नियमो
१९—ह	१६५	१४	है
२०—Syllogision	१७५	४	Syllogism

२१—Hypothen	१७४	६	Hypothesis
२२—आर	१७७	१३	और
२३—आचार्य:	१७७	२०	आचार्या:
२४—नियतत्वं	१८३	१	नित्यत्वं
२५—नियतत्वं	१८८	८	नित्यत्वं
२६—Required	१९१	२०	Acquired
२७—In hergent Quotation	१९४	२	Inherent qualities
२८—Fundements	१९९	१	rudiments
२९—Conceptrial	२०१	१९	Functional.